श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

हिन्दी-भाषा में एकमात्र पारमार्थिक मासिक

वर्ष १ | ज्येष्ठ पूर्णिमा, सम्वत् २०१२ | संख्या १

सम्पादक— त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

कार्यालय—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, पो० मथुरा ~~(मथुरा) उ० प्र०~~

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति का मुखपत्र

'श्रीभागवत-पत्रिका'

के

प्रतिष्ठापक और नियामक

परमहंस स्वामी ॐविष्णुपाद १०८ श्री-श्रीमद् भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजजी

सभापति–

त्रिदण्डि-स्वामी श्री-श्रीमद् भक्तिकुशल नारसिंह महाराज

सहकारी सम्पादक-संघः—

१. पण्डित श्रीयुत अभय-चरण भक्तिवेदान्त (संघपति)

२. पण्डित श्रीयुत आनन्द-स्वरूप पाठक एम० ए०; साहित्यरत्न; शास्त्री

३. पण्डित श्रीयुत शरण-बिहारी गोस्वामी एम० ए०; साहित्यरत्न

४. पण्डित श्रीयुत शङ्कर-लाल चतुर्वेदी बी० ए०; साहित्यरत्न

५. पण्डित श्रीयुत रघुनाथ-दास ब्रजवासी

६. पण्डित श्रीयुत सुदाम-सखा ब्रह्मचारी

७. पण्डित श्रीयुत प्रबुद्ध-कृष्ण ब्रह्मचारी

८. पण्डित श्रीयुत ब्रजकिशोर मुखोपाध्याय

कार्याध्यक्ष–

पण्डित श्रीयुत रसराज ब्रजवासी

श्रीरसराज ब्रजवासी कर्त्तृक श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, कंसटीला, पो० मथुरा, (मथुरा) उ० प्र० से
प्रकाशित तथा हैमेन्द्रकुमार, बी०एस-सी०, एल-एल० बी०, कर्त्तृक
साधन प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा, में मुद्रित ।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिका मुखपत्र

'श्रीभागवत-पत्रिका'

[पारमार्थिक मासिक]

वर्ष १

[श्रीगौराब्द ४६९ त्रिविक्रम—४७० मधुसूदन,
सम्वत् २०१२ ज्येष्ठ —२०१३ वैशाख,
सन् १९५५ जून —१९५६ मई ।]

प्रतिष्ठापक तथा नियामक—

परमहंस स्वामी ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजजी

सम्पादक—

त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

प्रकाशक—

श्रीरसराज ब्रजवासी

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, पो० मथुरा (मथुरा)

वार्षिक भिक्षा—४) मात्र

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति

के

प्रतिष्ठाता और सभापति

परमहंस स्वामी ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजजी

प्रचार सम्पादक

त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिकुशल नारसिंह महाराज

सहकारी सम्पादक-संघ—

१. पण्डित श्रीयुत अभय-चरण भक्तिवेदान्त (संघपति)
२. पण्डित श्रीयुत कृष्णदत्त वाजपेयी
३. पण्डित श्रीयुत शर्मनलाल अग्रवाल एम-ए०, एल-एल० बी०
४. पण्डित श्रीयुत आनन्द-स्वरूप पाठक एम०ए०; साहित्यरत्न; शास्त्री
५. पण्डित श्रीयुत शरण-बिहारी गोस्वामी एम० ए० साहित्यरत्न
६. पण्डित श्रीयुत शङ्करलाल चतुर्वेदी बी० ए०; साहित्यरत्न
७. पण्डित श्रीयुत रघुनाथदास ब्रजवासी
८. पण्डित श्रीयुत सुदाम-सखा ब्रह्मचारी
९. पण्डित श्रीयुत प्रबुद्ध-कृष्ण ब्रह्मचारी

कार्याध्यक्ष

श्रीरसराज ब्रजवासी

श्रीयुत हैमेन्द्रकुमार, बी० एस-सी०, एल-एल० बी० कर्त्तृक
साधन प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा में मुद्रित ।

प्रथम वर्ष श्रीभागवत-पत्रिकाकी

विषय-सूची

	विषय	संख्या और पत्राङ्क
१.	आधुनिक भगवद्दर्शन	५।११६
२.	अभक्ति-मार्ग [ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती]	१।३
३.	असत्संगके दोष	४।८५
४.	आसाम प्रदेशमें प्रचार	९।२१६
५.	कृपा	४।८३
६.	कृष्णके प्रति—श्री	९।२०५
७.	कृष्णचैतन्य महाप्रभुका संकीर्त्तन आन्दोलन—श्री	१।२३, २।४६, ४।८९
८.	केशवाचार्याष्टकम्—श्रीश्री	४।७३
९.	क्या करूँ ?	३।६८
१०.	क्षमा-प्रार्थना	२।४७
११.	गीताकी वाणी	५।११३, ६।१३६, ७।१६१, ८।१८१, १०।२३६, ११।२५२, १२।२७४
१२.	गुरुदास [ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती]	८।१७२
१३.	गुरु-सेवा	७।१५८
१४.	गुर्व्वष्टक [श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर]	३।४९
१५.	गौड़ीय वेदान्त चतुष्पाठीका परीक्षा-फल---श्री	२।४५
१६.	गौड़ीय वेदान्त समितिके उत्सव---श्री	२।४७
१७,	गौरकिशोरनमस्कार दशकम्—श्रीश्री	९।१५३
१८.	चरणामृत—श्री	९।२०८
१९.	चित्रकेतुका मोह (कहानी)	११।२५६
२०.	चैतन्यदेवकी अनुपम वाणी	३।६१
२१.	चौरासीकोस ब्रजमण्डलकी परिक्रमा और उर्जव्रत	७।१६६, ८।१९०, ९।२१६
२२.	जगनाथाष्टकम्---श्रीश्री	२।[illegible]५, ११।१४१
२३.	जन्माष्टमी (पद्य)	३।६५
२४.	जैव-धर्म	१।२१, २।४२, ३।७१, ४।९२, ५।१२०, ६।१४१, ७।१६८, ८।१८७, ९।२११, १०।२४०, ११।२५९, १२।२६७
२५.	ज्ञान [ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्ति विनोद ठाकुर]	५।१०४
२६.	तत्त्व-परिचय	६।१३९
२७.	दयितदासदशकम्—श्रीश्री	९।१६९
२८.	दरिद्रनारायणकी सेवा (?)	१२।२८६
२९.	धर्म और विज्ञान [ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर]	६।१२६, ७।१५१
३०.	नटवर (कविता)	७।१५७
३१.	नवद्वीपधाम-परिक्रमाका निमन्त्रण-पत्र—श्रीश्री	१०।२३९
३२.	नवद्वीपधाम-परिक्रमा और गौर-जन्मोत्सव---श्रीश्री	११।२६१
३३.	नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् (कहानी)	६।१३२
३४.	पञ्चोपासना [ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती]	११।२६६
३५.	पाञ्चरात्रिक अधिकार [,, ,, ,, ,,]	५।१००

३६. प्रचार-प्रसङ्ग ३।७०
३७. प्रतिकूल मतवाद [ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती] ४।७५
३८. प्रतिबन्धक [,, ,, ,,] ६।१२३
३९. प्रतिष्ठाकी आशा [ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर] ४।७८
४०. प्रभुपादपद्म-स्तवकः— श्रीश्री ५।९७
४१. प्रभुपादाष्टकम्—श्रीश्री ७।१४५
४२. प्रवृत्ति और निवृत्ति [ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर] १०।१२२, ११।२४५, १२।२६९
४३. प्रश्नोत्तर ३।६६
४४. ब्रजके सन्त कवि ६।१२९
४५. ब्रज-मण्डलकी परिक्रमा और कार्त्तिक व्रतका निमन्त्रण पत्र—श्री ३।७२, ४।९६
४६. ब्रजमण्डल-परिक्रमा और श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरामें कार्त्तिक व्रत—श्री ६।१४०
४७, ब्रज-महिमा (पद्य) २।३८
४८. भक्त कालीदास (कहानी) २।३९
४९. भक्ति-मार्ग [ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती] २।२७, ३।५१
५०. भक्तिविनोददशकम्—श्रीमद् १०।२१७
५१. भागवत-गुरु-परम्परा—श्रीश्री १२।२६५
५२. भीष्म-युधिष्ठिर संवाद (कहानी) १।१३
५३. मंगलाचरण १।१
५४. मनुष्यका कर्त्तव्य ४।८६
५५. मनुष्य समाज और वैष्णव धर्म [ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर] १।७
५६. मायावादकी जीवनी [ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव महाराज] १।१०, २।३४, ३।५८, ४।८०, ५।१०८, ७।१५४, ८।१७८, ९।२०६, १०।२२६, ११।२५०, १२।२७२
५७. मीराबाईके श्रीकृष्णचैतन्य (पद्य) १।१८
५८. यमुनाष्टक (पद्य) ५।११२
५९. याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद ६।१२८
६०. वर्ष—निवेदन १२।२८४
६१. विनय (पद्य) ११।२५५
६२. विशुद्ध-भजन (ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर] ९।१९९
६३. विशुद्ध साम्प्रदायिकता ही आर्यधर्मका गौरव है [,, ,, ,, ,,] २।३९
६४. वैष्णव-दर्शन [ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती] ९।१९५, १०।२१९, ११।२४२
६५. वैष्णव वंश [,, ,, ,, ,,] ७।१४७
६६. व्यासपूजा और श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति—श्रीश्री १०।२३०
६४. शरणागति (पद्य) १।१८, २।३८, ३।६५, ४।८२, ५।११२, ६।१३५, ७।१५३, ८।१८६, ९।२०५, १०।२३५, ११।२५८, १२।२८२
६८. श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्बन्धमें वक्तव्य १।१९
६९. सत्संगकी विधि [ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर] ८।१७५
७०. सरस्वती गोस्वाम्याष्टकम्—श्रील ६।१२१
७१. साधुसंग [ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर] ३।५३
७२. हरि-गुरु-वैष्णव-वन्दना—श्री १।२
७३. हरिनाम—श्री ४।९१

स्वयं-भगवान् श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु का अर्चा-विग्रह

❀ श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन-कथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है, वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगल दायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धकर ॥

वर्ष १ } गौराब्द ४६९, मास–त्रिविक्रम ३०, वार–वासुदेव
रविवार २१ ज्येष्ठ पूर्णिमा, सम्वत् २०१२, ५ जून १९५५ { संख्या १

मंगलाचरण

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपद-कमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण-रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजन-सहितं कृष्ण-चैतन्य-देवम्
श्रीराधा-कृष्ण-पादान् सहगण-ललिता-श्रीविशाखान्वितांश्च ॥

श्री श्रीगुरुदेव, अर्थात् श्रीदीक्षा-गुरू और भजन-शिक्षा गुरुदेव के चरणकमलों; एवं परम-परात्पर प्रभृति गुरुवर्ग, अर्थात् श्रीआनन्द तीर्थ–माधवेन्द्र पुरी प्रमुख गुरुवर्ग की; चतुर्युगोद्भूत वैष्णवों की; ज्येष्ठ-भ्राता श्रीसनातन गोस्वामी, निजभक्तगण, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के सहित श्रीरूप गोस्वामी को; श्रीअद्वैत प्रभु,श्रीनित्यानन्द प्रभु और परिजन सहित श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की; तथा सखी-मञ्जरीगण सहित श्रीललिता-विशाखा-युक्त श्रीराधाकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ ।

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-वन्दना

१. श्रील-प्रभुपाद-वन्दना

नम ॐ विष्णुपादाय कृष्ण-प्रेष्ठाय भूतले ।
श्रीमते भक्ति सिद्धान्त-सरस्वतीति-नामिने ॥
श्रीवार्षभानवी-देवी-दयिताय कृपाब्धये ।
कृष्ण-सम्बन्ध-विज्ञान-दायिने प्रभवे नमः ॥
माधुर्य्योज्ज्वल-प्रेमाढ्य-श्रीरूपानुग-भक्तिद ।
श्रीगौर-करुणा-शक्ति-विग्रहाय नमोऽस्तुते ॥
नमस्ते गौर-वाणी-श्रीमूर्त्तये दीन-तारिणे ।
रूपानुग-विरुद्धाय-सिद्धान्त-ध्वान्त-हारिणे ॥

२. श्रील-गौरकिशोर-वन्दना

नमो गौरकिशोराय साक्षाद्वैराग्य मूर्त्तये ।
विप्रलम्भ-रसाम्बोधे पादाम्बुजाय ते नमः ॥

३. श्रील-भक्तिविनोद-वन्दना

नमो भक्ति-विनोदाय सच्चिदानन्द-नामिने ।
गौर-शक्ति-स्वरूपाय रूपानुग-वराय ते ॥

४. श्रील-जगन्नाथ-वन्दना

गौराविर्भाव-भूमेस्त्वं निर्देष्टा सज्जन-प्रियः ।
वैष्णव-सार्वभौम-श्रीजगन्नाथाय ते नमः ॥

५. श्रीवैष्णव-वन्दना

वांछा-कल्पतरूभ्यश्च कृपा-सिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्योनमो नमः ॥

६. श्रीमन्महाप्रभु-वन्दना

नमो महावदान्याय कृष्ण-प्रेम-प्रदाय ते ।
कृष्णाय कृष्ण-चैतन्य-नाम्ने गौर-त्विषे नमः ॥

१. श्रील-प्रभुपाद की वन्दना

कृष्ण-सम्बन्ध-विज्ञान के दाता, कृष्ण-प्रेष्ठ श्रीवार्षभानवी-देवी के प्रियतम, इस भूतल पर अवतीर्ण ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति-सिद्धान्त-सरस्वती गोस्वामी नामक कृपा-वारिधि प्रभु की वन्दना करता हूँ । एवं जो माधुर्य के द्वारा उज्ज्वलीकृत, प्रेमपूर्ण, श्रीरूपानुग-भक्ति दानकारी तथा श्रीगौराङ्ग-महाप्रभु की करुणा-शक्ति के विग्रह-स्वरूप हैं, उन्हें नमस्कार है ।

जो गौर-वाणी के श्रीमूर्त्ति-स्वरूप, दीनजनों के त्राण-कर्त्ता और श्री रूपानुग विचार के विरुद्ध कुसिद्धान्त-रूप अन्धकार को विनाश करने वाले हैं, उनको नमस्कार है ।

२. श्रील-गौरकिशोर की वन्दना

जो साक्षात् मूर्त्तिमन्त वैराग्य और विप्रलम्भ-रस के समुद्र-स्वरूप हैं, उन्हीं श्रीगौरकिशोर के चरण-कमलों में नमस्कार है ।

३. श्रील-भक्तिविनोद की वन्दना

जो रूपानुग भक्तों में श्रेष्ठ हैं तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु के शक्ति-स्वरूप हैं उन्हीं सच्चिदानन्द नामक श्रीभक्ति-विनोद को नमस्कार है ।

४. श्रील-जगन्नाथ-वन्दना

जो सज्जनों के प्रिय और गौर-सुन्दर के आविर्भाव-भूमि के निर्देशक हैं, उन्हीं वैष्णवसार्वभौम श्रीजगन्नाथ को नमस्कारहै ।

५. श्रीवैष्णव-वन्दना

जो बाँछा-कल्प-तरू, कृपा के समुद्र-तुल्य और पतितपावन हैं उन वैष्णवों को पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ ।

६. श्रीमन्महाप्रभु की वन्दना

जो अतुल परम करूणामय, देव-दुर्लभ कृष्ण-प्रेम प्रदाता श्रीकृष्ण-चैतन्य नामधारी और गोपीजन-वल्लभ श्रीकृष्ण हैं; उन्हीं (श्रीराधा-द्युति-सुवलित) गौर-कान्तिमय गौराङ्ग-महाप्रभु को नमस्कार है ।

अभक्ति-मार्ग

अभक्ति का परिचय

जिस मार्ग में कृष्ण-सेवा की चर्चा नहीं उसे अभक्ति-मार्ग कहते हैं। श्रीकृष्ण की उत्तम सेवा में कृष्ण के अतिरिक्त अन्यवस्तु की अभिलाषा, कर्म, ज्ञान तथा शिथिलता का आवरण नहीं। उसमें कृष्ण का अनुकूल अनुशीलन होता है। अनेक लोग भक्त होने की अभिलाषा करते हुए भी अभक्ति के मार्ग का आश्रय ग्रहण किया करते हैं। जो कृष्ण-भक्ति के स्वरूप की उपलब्धि करते हैं और एकमात्र उसे ही जीवों की वृत्ति समझते हैं, वे ही भक्तिपथ के पथिक हैं। जिन्होंने अपनी प्रतिभा या अनभिज्ञता के ऊपर निर्भर रह कर भक्ति की संज्ञा स्वयं ही निर्धारित की हैं, उनकी इस हठकारिता से बहुधा भक्ति के स्वरूप का विपर्यय हो जाता है। कतिपय व्यक्तियों ने अपने को भक्त समझकर भक्ति के नाम पर निज कल्पित वृत्ति का ही प्रचार किया है, किन्तु गौर-सुन्दर ने कलिहत दुर्बल जीवों के कल्याणार्थ भक्ति की जो संज्ञा निर्धारित की है, वही यथार्थ भक्ति है और श्रीरूप गोस्वामी ने उसीका श्रवण और कीर्तन किया है।

निरन्तर कृष्ण का अनुशीलन ही भक्ति है

सचेत सामाजिकगण! अपने को भक्ति की संज्ञा से भूषित करने के लिये सर्वप्रथम भक्ति के प्राकृत स्वरूप का अनुसंधान करना होगा। श्रीमन्महाप्रभु ने भक्त प्रवर श्रीपादरूप गोस्वमी से कहा था कि कृष्ण का अनुशीलन करना ही भक्ति है। अनुशीलन शब्द से निरन्तर या अनुक्षण सेवा का बोध होता है। 'अनु' शब्द से पीछे-पीछे अर्थात् अन्तर रहित से है। 'शील' धातु का अर्थ ऐकान्तिकभाव से प्रवृत्त होना है। अनुशीलन दो प्रकार का है-(१) चेष्टा रूप (२)भावना रूप। (१) कृष्ण के लिए कायिक,वाचिक औरमानसिक चेष्टा-समूह 'चेष्टारूप' अनुशीलन है। इसके दो भेद हैं—सेवा के अनुकूल कायिक, वाचिक और मानसिक अनुशीलनरूप प्रवृत्यात्मक (विधि-मूलक) और प्रतिकूल वर्जन-रूप निवृत्यात्मक (निषेध-मूलक)। (२) प्रीति विषयक मानसिक अनुशीलन ही भावनारूप (रागानुगा) अनुशीलन है।

श्रीगौर-कृष्ण, नित्यानन्द-राम और जीव तत्त्व

कृष्ण कहने से परमेश्वर, सच्चिदानन्द विग्रह, अनादि, सर्वादि तथा सर्वकारणों के कारण का निर्देश होता है। इनसे ही सविशेष तत्त्व बलदेव और श्रीनारायण का प्रकाश होता है। गोलोक में माधुर्य के परम आश्रय व्रजेन्द्रनन्दन ही माधुर्यदाता औदार्य के परम आश्रय श्रीगौर-हरि हैं। ये बैकुण्ठ में अपनी प्रकाश-मूर्त्ति नित्यानन्द-राम के द्वारा सविशेष ऐश्वर्य-विग्रह को प्रकाशित कर श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध नामक व्यूह चतुष्टय को नित्यकाल प्रकट करते हैं। ये सभी एक अद्वय तत्त्व हैं। इसी अद्वय तत्त्व वस्तु से भगवान के मुख्य नित्य अवतार समूह प्रकटित हुए हैं। भगवान के पुरुषावतार, नैमित्तिकावतार,गुणावतार प्रभृति विष्णुतत्त्व जीव को भगवान् और तदितर वस्तु के पार्थक्य की उपलब्धि कराते हैं। मायाधीश विष्णु जीव को विशुद्ध भाव से अपना अनुशीलन करा कर विष्णु व्यतिरिक्त अन्य प्रतीतिरूप माया के कवल से उसका उद्धार करते हैं। जीव जिस कृपा-रज्जु का अवलम्बन कर कृष्णप्रेम लाभ करते हैं, उसे भक्ति कहते हैं। भक्ति के उदय होने पर जीव भक्त संज्ञा लाभ करते हैं। भक्त भक्ति के द्वारा भगवान कृष्णचन्द्र का भजन कर सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ लाभ करते हैं।

अभक्ति-वृत्ति का लक्ष्य

भक्ति-वृत्ति के सुप्त हो जाने पर जीव अभक्ति की किसी एक वृत्ति का अवलम्बन करता है। उस समय उसकी वृत्ति भजन-शून्य होकर लक्ष्य तत्त्व-वस्तु को कभी परमात्मा और कभी निर्विशेष ब्रह्म की संज्ञा देती है, सुतरां योगियों का परमात्मा तथा ज्ञानियों का ब्रह्म, कृष्ण के आंशिक तथा भेदाभेद प्रकाश विशेष हैं। कृष्ण चिन्तन के सिवा अन्य किसी चिन्ता के प्रबल होने पर जीव भक्ति-वृत्ति से च्युत होकर भगवत् दर्शन से वञ्चित हो जाता है। तब वह तत्त्व वस्तु को

कभी सहस्रार परमात्मा, कभी उसे अज्ञान का प्रकाशक पञ्चदेवता और कभी अज्ञान-समष्टि की उत्कृष्ट उपाधि को ही विशुद्ध सत्त्व है—प्रभृति भक्ति विरोधी विचारों का आश्रय ग्रहण करता है । कृष्ण की भगवत्ता भूल कर भोगतात्पर्यमय होकर कृष्ण को जड़ कर्मफलदाता, यज्ञों का ईश्वर तथा गोब्राह्मणों का हितकारी प्रभृति उसके ईश्वरत्व को ही अन्तिम मान लेता है । फिर अपने विभुत्व और प्रभुत्व में व्यस्त रह कर यथेच्छाचार और भोगमय जीवन को ही हरित्व समझता है। भक्तों के अतिरिक्त अन्यान्य लोगों के द्वारा कथित कृष्ण से यहाँ तात्पर्य नहीं है। किंतु के भक्तों द्वारा लक्षित 'कृष्ण' शब्द ही प्रकृत कृष्ण का परिचायक है। बिना भक्ति-शास्त्र की आलोचना किये ही जो लोग 'कृष्ण' शब्द की कल्पनामूलक व्याख्या कर उन पर ही आस्था रखते हैं, वे चैतन्यचन्द्र के लक्षित कृष्ण को अपनी कोरी कल्पनाओं से केवल कलंकित ही करते हैं, वस्तुतः वे न तो स्वयं ही कुछ समझते हैं और न दूसरों को ही समझा सकते हैं। इन वंचक और वंचितों के प्रति हमारा कुछ भी वक्तव्य नहीं है ।

अनुकूल-प्रतिकूल रूप द्विविध कृष्णानुशीलन

अनुकूल और प्रतिकूल उभय प्रकार से कृष्ण का अनुशीलन हो सकता है। जरासंध, कंस, दन्तवक्र, शिशुपाल, पूतना, अघवक प्रभृति असुरगण और निर्विशेषवादी ज्ञानी प्रतिकूल भाव से कृष्ण का अनुशीलन करते हैं। प्रतिकूलभाव के अवलम्बन से सेवा में विपर्यय घटता है। अतएव वह भक्ति नहीं। अनुकूल कहने से कृष्ण के उद्देश्य से रोचमाना (अनुरागपूर्ण) प्रवृत्ति का बोध होता है । अनुकूल भाव से तैलधारावत् अन्तर-रहित सर्वतोभावेन प्रवृत्त होकर भजन सिद्ध होता है।

अनुकूल-अनुशीलन का स्वरूप

अनुकूल अनुशीलन में सर्वप्रथम कृष्ण-सेवा के अतिरिक्त अन्य अभिलाषाओं का अभाव होना आवश्यक है। भक्त कृष्ण की निजी-सेवा करता है। उसकी कृष्ण-सेवा का फल भी कृष्ण के लिये ही होता है, उसमें कोई अन्य उद्देश्य नहीं रहता। अगर उस सेवा में अपने लिए लेशमात्र भी भोगवांछा का सम्मिश्रण रहे तो वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुवर्ग के अन्तर्गत एक हैतुकी वृत्ति हो जाती है तथा कृष्ण प्रीति के उद्देश्य से पृथक होने से उस वृत्ति को अन्याभिलाष कहते हैं । यथेच्छाचारी कुकर्मी अथवा अज्ञान-सेवी-कुज्ञानीगण कृष्ण-सुख के अतिरिक्त मन ही मन अपनी काल्पनिक प्रार्थनाओं का पोषण करते हुए यदि कृष्ण का अनुकूल आनुशीलन करे भी तो उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है। जिनके हृदय में प्रतिष्ठा की आशा है, जिन्हें इन्द्रिय-सुख की लालसा है, जो पार्थिव या मोक्ष सम्बंधी परोपकार अथवा निज उपकार के लिए व्यग्र हैं, जो अपनी पाण्डित्य-प्रतिभा के विस्तार के इच्छुक हैं, जो रोग-शांति के लिए उत्कंठित हैं, जो उत्तम आचार्य वंश या वर्णगत सम्मान पाने में तत्पर हैं, जो लाभ-पूजा प्रतिष्ठा, निषिद्ध आचार, कुसंस्कार जीव-हिंसा प्रभृति ऐहिक अथवा स्वर्ग-सुख भोगने में रत हैं;जो वेश या आश्रम के माहात्म्य के लोलुप हैं और जो मुमुक्षु, सिद्धि कामी हैं वे अपने अपने आवान्तर उद्देश्यों से युक्त रह कर कृष्ण का अनुकूल अनुशीलन करें भी तो उनके सभी कृष्णानुष्ठान कपटतापूर्ण हैं। सुतरां इस भक्ति के मार्ग में कृष्ण-सेवा के उद्देश्य से भ्रष्ट होकर अन्य अभिलाषाओं से युक्त होकर भी भगवदनुशीलन देखा जाता है।

अमल ज्ञान का विचार और पठन पाठन ही भक्ति है

ज्ञान के आवरण में भक्ति का होना सम्भव नहीं अर्थात् ज्ञान का आश्रय ग्रहण करने से भक्ति नहीं हो सकती। यहाँ 'ज्ञान' शब्द से निर्भेद ब्रह्मानुसंधान का लक्ष्य किया गया है। कृष्ण ही एक मात्र उपास्य वस्तु हैं। कृष्ण विषयक परेशानुभूति अर्थात् भजनीय वस्तु के स्वरूप का ज्ञान भक्ति के साथ ही साथ युगपत् आवश्यक है। श्रीमद्भागवत के अंतिम श्लोकों में स्पष्ट किया गया है कि भक्तवैष्णवों के प्रिय निर्मल पुराण शास्त्र श्रीमद्भागवत् में एक मात्र परमहंस अमलज्ञान ही विशिष्टरूप में कीर्तित हुआ है, और इस शास्त्र में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति एकत्र आविर्भूत

होकर जीवों के कर्म-भोगफल को निरस्त करते हैं। सुतरां श्रीमद्भागवत के श्रवण, उत्तमरूप पठन तथा नाना प्रकार के मतवादों की अकर्मण्यता उपलब्धि करने के लिए विचारपूर्वक भक्ति के सिद्धांतों पर उपनीत होने से जीव भक्ति का अवलम्बन कर अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान तथा शिथिलता से अपने को मुक्त करने में समर्थ होता है। श्रीचैतन्य चरितामृत के आदि लीला द्वितीय परिच्छेद संख्या १७, में इस विषय का और भी स्पष्टीकरण किया गया है।

सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस।
इहा हैते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस॥

[अर्थात् भगवत् तत्त्वज्ञानादि सिद्धान्त विषयों को जानने में आलस्य करना उचित नहीं, क्योंकि इसके द्वारा ही श्रीकृष्ण के पाद-पद्मों में भक्ति सुदृढ़ होती है।]

भक्ति के साथ शुद्ध ज्ञान और वैराग्य का उदय

भक्ति के प्रारम्भ में श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा के बिना भक्ति का उदय नहीं हो सकता। पहले साधुओं के संग में शास्त्रों के श्रवण से श्रद्धा उदित होती है। शास्त्रीय वचनों में विश्वास होने को श्रद्धा कहते हैं। सम्बन्ध ज्ञान उदय होने के पूर्व ही अभिधेय भक्ति अग्रसर हुई है—ऐसा कदापि नहीं हो सकता, "भक्ति परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैषः त्रिक एक कालः।" भक्ति के साथ ही साथ कृष्णेतर विषयों से वैराग्य और भगवत् विषयक ज्ञान का उदय होता है। भक्ति के बिना उनके अस्तित्व की संभावना नहीं। जो लोग मायिक ज्ञान की सहायता से ज्ञानी बनने के लिए निष्फल मिथ्या प्रयास करते हैं उनका वह प्रयास भक्ति का अंग नहीं हैं। ब्रह्म का अविद्याग्रस्त खण्ड-विशेष ही बद्ध जीव है—ऐसे मायिक विचार वाले ज्ञानियों की चेष्टा में सम्पूर्णरूप से मुक्तिरूप कपट-धर्म अन्तर्निहित होता है। हेतुक ज्ञान कभी भी शुद्ध भक्ति का अंग नहीं है। अगर भक्तों के हृदय में मुक्तिरूपी पिशाची वर्तमान रहे तो वह साधक भक्त को कृष्ण-भक्ति से अवश्य ही विपथगामी बना देती है।

अद्वय और अद्वैत ज्ञान

शुद्ध भक्ति वणिक्-वृत्ति (लेन देन का व्यापार) से पृथक है। शुद्ध भक्ति के बदले में कृष्ण द्वारा अपनी किसी कामना की पूर्ति एक लेन देन का कारोबार हो जाता है। यह वृत्ति भक्त को कृष्ण के अनुकूल अनुशीलन से विच्युत कर अन्याभिलाषी अथवा अहंग्रहोपासक (अपने को ब्रह्म या भगवान समझ कर उपासना करने वाला) बना देती है। इन शुष्क तर्कों से तत्त्व-वस्तु और श्रीकृष्ण पृथक् पृथक् हो जाते हैं। भक्ति विरोधी ज्ञानी आत्मवंचक है। वह केवल केवला अहेतुकी प्रेमलक्षणा भक्ति को अज्ञान-मिश्र प्राकृत समझ कर अपनी मूढ़ता प्रकाश करता है। इन शुष्क ज्ञानियों के निर्भेद ज्ञान-रूपी (जीव ब्रह्मैक्यवाद) अज्ञानान्धकार के पटल से भक्तों की भक्ति (उपास्य और उपासक तत्त्व) आच्छादित नहीं हो सकती। कृष्ण ही अद्वय ज्ञान तत्त्व हैं। कृष्ण के व्यतिरिक्त ज्ञान में माया शक्ति की सुप्त और जाग्रत क्रियाएँ ही परिलक्षित होती हैं। सुतरां मायिक ज्ञान के आवरण में जो भक्ति सी दिखलायी पड़ती है, उसे अभक्ति कहते हैं। शुद्धा भक्ति के उदय होने पर प्रकृत ज्ञान सहायक और दासरूप से उसके साथ सदा वर्त्तमान रहता है। जिस ज्ञान का कर्तृत्व कृष्ण भक्ति के ऊपर देखा जाता है, वह कृष्ण के व्यतिरिक्त द्वैत-ज्ञान है। ज्ञानियों के अज्ञान विजृंभित मायिक निर्भेद ब्रह्म के अनुसंधान के द्वारा कृष्ण के अनुकूल अनुशीलन की सभावना नहीं, प्रत्युत भक्ति उनके ज्ञान के आवरण से आच्छादित हो जाती है।

माया के आश्रित कर्म अभक्ति और श्रीहरि के उद्देश्य की क्रिया ही भक्ति है

कर्म के आवरण में भक्ति होने की संभावना नहीं। स्मृति में जिन नैमित्तिक फल-प्रसू कर्मों का वर्णन है वे जीवों के भक्ति के आवरण हैं। कर्म—कृष्ण की जीवआवरणात्मिका माया-शक्ति का एक परिणाम है। कर्म फलवादी कर्मविपाक में पड़कर सोचते हैं कि भक्ति सत्-कर्म के प्रभाव से उत्पन्न हो सकती है, किन्तु यह भ्रममूलक विचार है। सेव्य वस्तु की

परिचर्यादि कर्मावरण नहीं बल्कि अनुकूल अनुशीलन है। जिस अनुष्ठान में जीवों का अपना फल-भोग संश्लिष्ट रहता है उसे कर्म कहते हैं और जिस अनुष्ठान का फल जीव के भोग्य न होकर स्वयं भगवान् के लिये होता है उसे भक्ति कहते हैं। भक्त के हृदय में भुक्ति पिशाची थोड़ा भी स्थान पाने से उसे कृष्ण-भक्ति के मार्ग से विच्युत कर देती है। पञ्चरात्र का कथन है—'हे देवर्षे, श्री हरि के उद्देश्य से किये हुए शास्त्र सम्मत अनुष्ठान को वैधी-भक्ति कहते हैं। इस वैधी-भक्ति के द्वारा ही प्रेम-भक्ति साधित होती है। श्री चैतन्य चरितामृत मध्यलीला २२ परिच्छेद १४१ संख्या में लिखा है—

ज्ञान, वैराग्य भक्तिर कभु नहे अङ्ग।
अहिंसा, यम, नियमादि बुले कृष्णभक्त सङ्ग॥*

ठाकुर बिल्वमंगल ने भी कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्यात्
दैवेन नः फलति दिव्य किशोर मूर्त्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थ काम गतयः समय-प्रतीक्षाः॥

ज्ञान और वैराग्य भक्ति के अङ्ग नहीं

शिथिलता के आवरण में भी भक्ति उदित होने की सम्भावना नहीं। धन या शिष्य के द्वारा उत्तमा-भक्ति उत्पन्न नहीं की जासकती। विवेक द्वारा भी भक्ति नहीं होती, परन्तु भक्तों में विवेक लक्षित होता है। कृष्ण-रहित ज्ञान और वैराग्य चित्त को कठिन बना देते हैं। अतः वे सुकोमला भक्ति के लिये उपयोगी नहीं। अविरोधी ज्ञान और वैराग्य की कुछ कुछ उपयोगिता देखे जाने पर भी ये भक्ति के अङ्ग-रूप से गृहीत नहीं होते।

कर्म, ज्ञान, तपस्यादि अभक्तिमार्ग

कर्म और ज्ञान के अनुष्ठानरूप तपस्या की आवश्यकता नहीं, यदि भक्ति है। कर्म, ज्ञान, और तपस्या की उस समय भी आवश्यकता नहीं यदि भक्ति न हो। कर्म ज्ञान और तपस्या की आवश्यकता नहीं यदि हृदय और अनुष्ठान में भक्ति हो और कर्म ज्ञान और तपस्या की उस समय भी आवश्यकता नहीं यदि हृदय और अनुष्ठान में भक्ति नहीं हो। जीव की परम आवश्यकीय भक्ति वर्त्तमान रहने से गौण-मार्ग द्वय (कर्म-ज्ञान) यदि न भी रहें तो कोई हानि नहीं, किन्तु मूल वृत्ति भक्ति के अभाव में कर्म और ज्ञान के अनुष्ठान से भक्ति उत्पन्न नहीं होसकती। भक्ति स्वतंत्र वृत्ति है-पञ्चरात्र का यही सुस्पष्ट मत है। सुतरां अन्याभिलाष,कर्म,ज्ञान तथा शैथिल्य भक्ति के प्रतिबन्धक हैं और इन्हें ही अभक्ति मार्ग कहते हैं।

अभक्त और अभक्ति से निरपेक्ष होना कर्त्तव्य है

सज्जन पाठकगण ! अभक्ति जीवों के लिये श्रेय नहीं। अतः इससे उदासीन रहें। यदि आप अभक्ति-मार्ग से तटस्थ हो जायँ, यदि अभक्ति मार्ग के प्रति आपका आदर नहीं है, तो उसके लिए आपकी कोई निन्दा नहीं करेगा एवं न तो भक्तों को अभक्तों के प्रति श्रद्धा करने के लिए बाधित करेंगे और न अभक्तों में श्रद्धा न करने से भक्ति नहीं होगी,ऐसा कह सकते हैं। अभक्तों की अवज्ञा करना उचित नहीं, किन्तु उन्हें प्रेमी-भक्त कहना भी ठीक नहीं। उनके मायावाद अथवा योगमार्गीय सिद्धान्त-विरुद्ध पद्धति को भक्ति के अन्तर्गत न समझें। अभक्ति कभी भी भक्ति की समजातीय नहीं।

—जगद्गुरू ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

*ज्ञान और वैराग्य भक्ति के कभी भी अंग नहीं है। ज्ञान, वैराग्य, यम तथा नियमादि कृष्णभक्तों के पीछे-पीछे दौड़ते हैं।

मनुष्य-समाज और वैष्णव-धर्म

मुक्त जीवों का शुद्ध वैष्णवधर्म बद्ध जीवों में विकृत हो जाता है

अनेकों बार हम यह कह चुके हैं कि जो पवित्र जैव धर्म कहा जाता है,उसी का नाम वैष्णव धर्म है। जीवों का नित्य-स्वाभाविक धर्म का नाम ही जैव धर्म है। जीव जब उपाधि से रहित हो जाते हैं, उसी समय उनका शुद्ध चिन्मय स्वरूप होता है। उस समय उनका नित्यधर्म क्या होता है ?—निरुपाधिक विशुद्ध प्रेम। जिस समय जीव जड़ग्रन्थिरूप उपाधि से युक्त होते हैं, तब उनका धर्म होता है विकृत प्रेम या जड़ोपाधिमिश्रित प्रेम। शुद्ध जीवों का वैष्णव धर्म बद्ध जीवों में अनेकों विकृत भावों के रूप में प्रकट हुआ करता है।

स्व-स्वरूप की प्राप्ति करने के लिये भी जड़विधि अनिवार्य है

बद्ध जीव जड़ देह में आवद्ध होकर जड़ विधि के अधीन रहते हैं। शारीरिक, मानसिक और सामाजिक जितनी भी विधियाँ हैं वे सब जड़मय हैं। जड़ता के इन संबन्धों का त्याग हो जाने के बाद स्वस्वरूप प्राप्ति के लिये भी जड़ विधियों का संपूर्णरूपेण परित्याग नहीं किया जा सकता। अतः इस जड़ शरीर में रहते हुए ही जड़ता के संस्कारों से मुक्त होने के लिए उचित उपाय करने चाहिये। जड़ संबन्धों को अनुपयोगी मानकर केवल जड़-देह का त्याग करने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। इसमें तो आत्मघात का पाप होने के कारण और अधिक बन्धन की ही संभावना है। इसलिए निज-स्वरूप प्राप्ति के अभिलाषी जीवों के लिए शरीर रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नहीं, शरीर-पोषण, योगक्षेम, और उसके नाना विधि अभावों की निवृत्ति का यत्न करना भी आवश्यक है।

निष्पाप देह-यात्रा के लिए आश्रम और समाज की आवश्यकता

उत्तम रुप से शरीर यात्रा निर्वाह करने के लिए द्रव्य उपार्जन का कोई उपाय करना भी आवश्यक है। शरीर-यात्रा निष्पापरूप से चलती रहे, इसके लिए एक आश्रम और संसार को भी ग्रहण करना आवश्यक है। विवाहित होकर घर में रहना हो, या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अथवा संन्यास ग्रहण करना हो, प्रत्येक दशा में कोई न कोई आश्रम स्वीकार करना ही होगा। और उस आश्रम के उपयोगी एक समाज की रचना भी करनी होगी। सुतरां विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी का अपना कोई न कोई एक समाज है।

विषयी, मुमुक्षु और मुक्त भेदों से समाज तीन प्रकार का है

कुछ लोगों का विचार है कि सामाजिक नागरिक-जन वैष्णव नहीं कहे जा सकते। किन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः समाज के तीन भेद हैं—विषयी समाज, मुमुक्षु समाज, मुक्त समाज। मनुष्य किसी भी समय समाज से रहित नहीं होता है। जीव का स्वभाव सामाजिक होता है। जड़ से मुक्त होने पर जीव का शुद्ध भक्त-समाज के अन्तर्गत रहना अनिवार्य है। इस लिए मनुष्य घर में रहे, वन में रहे या वैकुण्ठ-वासी हो जाय; वह सामाजिक ही बना रहता है। वैष्णव या तदितर जनों में इतना ही भेद है कि वैष्णव जनों का वैष्णवसमाज है और दूसरों का दूसरा समाज। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्तः वैष्णव धर्म और वैष्णव समाज में कोई भेद नहीं है।

वैष्णव-समाज और इतर-समाज में अन्तर

वैष्णव-समाज और इतर-समाज में यही भेद है कि वैष्णवों का एक मात्र मुख्य उद्देश्य है भगवत्प्रेम जबकि साधारण समाज का उद्देश्य केवल स्वार्थ-पर काम। जो लोग साधारण समाज के अन्तर्गत हैं, वे शरीर-पोषण, इन्द्रियसुख, नीति, जड़-विज्ञान की आराधना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और इससे इन्द्रिय तृप्तिप्रद विषयाविष्कार तथा जड़ क्लेशों की यत्किंचित निवृत्ति को ही मानव जीवन एवं समाज का ध्येय समझते हैं। इनमें कुछ लोग मरणान्तर सुख को, कुछ लोग स्वर्गीय भोग को एवं

कुछ व्यक्ति जीव का अस्तित्त्व-नाशरूप निर्वाण को ही महत्त्व दिया करते हैं। किन्तु वैष्णव समाज के व्यक्ति देहपोषण, इन्द्रियतृप्ति, नीति, विज्ञान और जड़-सुख निवृत्ति के द्वारा भगवत्प्रीति के अनुशीलन में आनुकूल्य लाभ करते हैं। दोनों समाजों की आकृति तो समान है, दोनों की प्रकृति में ही अन्तर है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था हीं बद्ध जीवों की सामाजिक व्यवस्था है।

जिन लोगों ने समाजविज्ञान के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है, उनका एक ही वाक्य में यह सिद्धान्त है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था ही सर्वोत्तम सामाजिक व्यवस्था है वर्णाश्रम धर्म में स्थित होने से जीवों की प्रकृति का लोप नहीं होता परन्तु इसके सहारे से ऐसी सुविधायें मिल सकती हैं, जिससे भगवत्प्रेम प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाता है। वर्णाश्रम-धर्म ही वैष्णवों की बद्धदशा में एक मात्र समाज है। वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार का है यह विषय "श्रीचैतन्य शिक्षामृत" के प्रथम और द्वितीय प्रकरणों में भली भांति अलोचित हुआ है। इसलिये इस स्थल में उक्त धर्म सम्बन्धी रहस्य पर विचार नहीं किया गया। सिर्फ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि मनुष्य को अपने स्वभावानुसार कोई एक वर्ण तथा अवस्थानुसार कोई आश्रम ग्रहण कर उनमें जीवन निर्वाह करते हुए ईश्वर को प्रसन्न करना चाहिये। अनेकों परिस्थितियों और कर्मों से स्वभाव की रचना होती है. उनमें जन्म भी एक परिस्थिति-विशेष है।

जन्म वा वंश-क्रम से वर्ण निश्चय करने पर वर्णाश्रम बेकार होगा

केवल जन्म से ही वर्ण का निर्णय माने जाने से वर्णाश्रम व्यवस्था प्रभावहीन हो गई है। उसका परिणाम यह हुआ कि उस धर्म के अनुयायी व्यक्तियों के किसी भी काम में कोई सफलता नहीं होती। वर्णाश्रम धर्म का ऐसा व्यक्तिक्रम देखकर कितने ही सहृदय लोग भारत के भावी अभ्युदय के विषय में निराश हो गये हैं, इसीलिये कितने ही आधुनिक मनीषि वर्णाश्रम व्यवस्था को समाप्त करने के यत्न करने लगे हैं। किन्तु हम देख चुके हैं कि वर्णधर्म का विनाश होने से संसार की उन्नति नहीं हो सकती। वर्णधर्म ही सामाजिक मानव का जीवनस्वरूप है। वर्णाश्रम व्यवस्था न रहे तो मनुष्य का एक वैज्ञानिक समाज ही नष्ट हो जायगा एवं पुनः गर्हित दशा को प्राप्त कर स्वच्छन्द स्वेच्छाचारी निन्दित जीवन बिताने लगेगा। वर्णाश्रम-व्यवस्था का विनाश किसी भी देश और जातिप्रेमी को इष्ट नहीं है। केवल वर्णाश्रम व्यवस्था में जो दोष आगये है उन्हें ही हटाना उत्तम होगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पुनः संस्थापना के दस उपाय।

वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनः व्यापक और सुप्रतिष्ठित करने के लिये नीचे लिखे कुछ नियमों को प्रचलित करना होगा; जैसे—

१—केवल जन्म से ही किसी का वर्ण नहीं माना जाय।

२—बाल्यकाल के सङ्ग और ज्ञान-संग्रह से उत्पन्न जो स्वभाव प्रबल देखा जाय, उसी स्वभाव के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण निश्चित होना चाहिये।

३—वर्णनिर्णय के समय स्वभाव और प्रवृत्तियों के साथ ही माता-पिता के वर्ण सम्बन्ध का भी ध्यान रहे।

४—पुरुष की उपयुक्त अवस्था अर्थात् १५ वर्ष की आयु होने पर कुल-पुरोहित, मुखिया, माता-पिता, तथा पड़ोस के कुछ निःस्वार्थ विद्वान् लोग मिल कर वर्ण निर्णय कर लिया करें।

५—वयस्क व्यक्ति का कौन सा वर्ण हो; ऐसे विसम्वाद की शङ्का ही नहीं होगी। विचार्य यही होगा कि उक्त व्यक्ति पितृवर्ण प्राप्ति के योग्य हुआ या नहीं?

६—जब यह देख लिया जाय कि पितृवर्ण की योग्यता हो गई है, तब उसके अनुसार संस्कार कर दिया जाय। यदि उच्चवर्ण प्राप्ति की योग्यता दिखाई दे,

तो उसका उच्चवर्ण में संस्कार किया जाय। यदि यह मालूम पड़े कि पितृवर्ण से हीन वर्ण की योग्यता है, तब ऐसे बालक की उन्नति के लिये दो वर्ष तक प्रतीक्षा की जाय।

७—दो वर्ष के बाद फिर विचार करके उक्त बालक का वर्ण निरूपित कर दिया जाय।

८—प्रत्येक ग्राम में भूस्वामी, एवं पण्डितजनों की एक समाज-व्यवस्था-समिति होनी चाहिये।

९—ये सब व्यवस्थाएँ यथाविधि चलती रहें; इस के लिये सरकारी शासकों की सहायता ली जाय। राज्य ही वास्तव में वर्णाश्रम-धर्म का रक्षक है।

१०—जिसका जो वर्ण होगा, उसके अनुसार ही उसका विवाह आदि संस्कार तथा अधिकार होगा। उसका उल्लंघन करने वाले के लिये राज्य-दण्ड-विधान होना चाहिये।

विशुद्ध वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना में वर्त्तमान बाधायें

अब यह देखना है कि इस प्रकार का समाज सुधार वर्त्तमान समय में सम्भव है या नहीं। हमारे विचार में तो ऐसे कार्य की सुविधा नहीं है। प्रथमतः शासनतन्त्र से कोई सहायता मिलने की आशा नहीं, द्वितीयतः ऐसी सहायता यदि सम्भव भी हो,तो सहसा उसे ग्रहण करना उचित नहीं। क्योंकि जब तक शासकगण वर्णाश्रम को स्वीकार किये हुए न हों, तब तक उनकी निष्पक्ष सहायता नहीं प्राप्त हो सकती। निष्पक्ष और सरल सहायता के बिना ऐसे महत्त्व के संस्कार किसी तरह निष्पन्न न होंगे। इस विषय में भारतवासियों की उचित सहायता मिलने की भी आशा नहीं है। स्वार्थपरतावश बहुत से लोग इस आवश्यक परिवर्त्तन से सहमत न होंगे। उल्टे ऐसे संस्कारों के समय अनेकों विघ्न बाधा उपस्थित करेंगे। निम्नवर्ण के लोग मूर्खता और अज्ञानता के कारण वर्त्तमान कुसंस्कारों को एकदम छोड़ने में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिये कुछ सहृदय सज्जनों के मिलने से भी यह वृहत् कार्य शीघ्र पूरा नहीं हो सकता।

वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रतिष्ठार्थ श्रीभक्ति विनोद-ठाकुर की उत्कट अभिलाषा होते हुए भी उनकी विघ्न-शंकायें और निराशा-प्रकाशन

देखिये, इस समय विपत्ति दोनों ओर है। एकतरफ कुसंस्कार का घुन हमारे समाज को निस्सार कर रहा है। चुप बैठे रहने से अमंगल के बदले मंगल की संभावना नहीं है। हमारा सारा सामाजिक बल,वीर्य और सौभाग्य सभी क्रमशः लुप्त होता जा रहा है। जिस आर्यवंश के गौरव से सुदीर्घ काल तक वसुन्धरा भरपूर थी, वही आर्यसंतान आजकल म्लेच्छों से भी अधिकतर हीन हो गयी है, और क्रमशः अधिकतर हीन होती चली जा रही है। जिन्हें हृदय है, वे इन विषयों की आलोचना करके रोते-कलपते हैं। जो हृदयहीन हैं वे निश्चिन्त होकर अधःपतन के गर्त में जा रहे हैं।

दूसरी तरफ दृष्टि डाली जाय तो उधर भी बहुतसी विपत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। यदि वर्णाश्रम-व्यवस्था को त्यागकर नये सिरे से समाज का गठन किया जाय तो हम लोगों में से आर्यत्व विदा हो जायगा। फलतः वैज्ञानिक समाज व्यवस्था लुप्त हो जायगी। उदाहरण के लिए बौद्ध-समाज, जैन-समाज, ब्राह्म-समाज, तथा स्थानीय ईसाई-समाज आदि वर्णाश्रम-रहित व्यवस्था-समूह भारत भूमि में कहीं भी प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सके। बौद्ध और जैन समाज पर्वत-गुहाओं में घुस गये। देशी-ईसाई-समाज तो केवल म्लेच्छानुयायी होकर ही रह गया। ब्राह्म-समाज भी कुटियों तक ही सीमित रह गया। इनमें किसी का भी स्वतंत्र सामाजिक जीवन न रहा। क्या बौद्ध तांत्रिकता और क्या नव-विधान कोई किसी काम के न रहे। इस विज्ञान-पीठ भारत के वे कभी उपयोगी सिद्ध न हुए और न कभी होगें। ऐसी अवस्था में यदि अपनी वर्णाश्रम-व्यवस्था का सुधार न किया गया तो यह वैज्ञानिक विचारपूर्ण व्यवस्था भी भारत के लिए निरुपयोगी हो जायगी और यदि हम इसका सहसा संस्कार आरम्भ करते हैं तो भारी हलचल मचती है। सब तरफ अँधेरा-ही-अँधेरा है।

अनेक विपत्ति और बाधा होने पर भी दैव-वर्णाश्रम-व्यवस्था के स्थापनार्थ भगवत्प्रार्थना

अब इसका क्या उपाय है ? समाज का मङ्गल होना ही चाहिये। वह किस प्रकार सुगमता से प्राप्त होगा ? वर्णाश्रम धर्म जबतक संस्कृत होकर अपने उज्ज्वल स्वरूप में न आ जाय, तब तक सामाजिक, आध्यात्मिक और पारमार्थिक अमङ्गल समूह हम लोगों को क्षीण करता ही रहेगा । सभी मङ्गलों के निवास भगवान् ही उसका मङ्गल विधान करेंगे; इसमें सन्देह नहीं है।

शीघ्र-से-शीघ्र वर्णाश्रम-व्यवस्था स्थापन की शास्त्रीय आपत्ति का खण्डन

पुराणों के अवलम्बन पर कतिपय लोगों का विचार है कि कलयुग की समाप्ति पर भगवान् कल्कि अवतार लेंगे । उनके मरु तथा देवापि राजाओं की सहायता से वर्णाश्रम धर्म पुनः प्रतिष्ठा से अनायास सत्ययुग का उदय होगा। इस पर हमारा कथन है कि यह कलियुग साधारण कलियुग नहीं है, पिछले महात्माओं ने इसको 'धन्यकलि' नाम से सम्बोधित किया है । साधारण कलियुग में ही केवल कलिकाल की समाप्ति पर कल्कि द्वारा धर्म की स्थापना होती है। 'धन्य कलियुग' में कल्कि-अवतार की आवश्यकता नहीं होती है। जिस कलियुग में परिपूर्ण शक्ति, परम-कारुणिक प्रेम मूर्त्ति श्रीचैतन्यदेव अवतीर्ण हुए हैं,उस कलियुग का तो कहना ही क्या है ? इन्हीं कारुणिक महाप्रभु की कृपा से सब सामाजिक अमङ्गल दूर हो जायेंगे; यह निश्चित् है । सच्चे हृदय से उन महाप्रभु की शरण लेने पर फिर अन्य किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहेगी।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना ही प्रधान धर्म-संस्कार है

वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में इस अङ्क में हमने इतना ही विचार किया। सामाजिक अभ्युदय की प्राप्ति एवं वर्णाश्रमरूप मुख्य धर्म संस्कार के विषय में जो श्रेष्ठ उपाय हैं, उनके विषय में आगामी अङ्क में विचार किया जायगा। आशा करते हैं कि सहृदय पाठक इस निबन्ध को पढ़ कर आगामी प्रकाशित होने वाले निबन्ध को भी पढ़ने के लिये प्रस्तुत रहेंगे। जिस विषय को हमने यहाँ अपने हाथों में लिया है वह बहुत गम्भीर है। शान्त चित्त से इस पर विचार करना आवश्यक है । अनेक निगूढ़ विषय क्रमशः प्रकाशित होंगे। संक्षेप में हम यही कहना चाहते हैं कि भारतीय समाज के हित में इससे बढ़ कर अन्य दूसरा कोई प्रश्न नहीं है।

—श्रील-ठाकुर भक्तिविनोद,

मायावाद की जीवनी

जीवनी आलोचना की धारा

"मायामात्रन्तु कार्त्स्न्नेनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"
(ब्रह्मसूत्र ३।२ ।३)

जन्म और मृत्यु को लेकर ही जीवन है। जन्म से लेकर मृत्युकालपर्य्यन्त स्थिति-काल के क्रिया-कलापको जीवनी कहते हैं। किन्तु वर्त्तमान विचार-जगत के चिन्तास्त्रोत की तरफ लक्ष्य करने से जीवनी के साथ-साथ और भी अन्यान्य विषयों की आलोचना करने की आवश्यकता होती है, जिनमें 'जीवना-रम्भ का पूर्व-इतिवृत्त' और 'जीवन के अन्त में सर्व-साधारण के प्रति उसकी प्रतिक्रिया' ये दो प्रधान विषय हैं। अतः किसी भी व्यक्ति अथवा तत्त्व की जीवनी की आलोचना उक्त भाव एवं धारा से सामञ्जस्य रखकर ही करनी चाहिये। मायावाद की जीवनी लिखते समय यदि उक्त भाव-धारा के साथ सामञ्जस्य न रखा जाय तो जीवनी के पाठक सज्जनगण आशानुरूप सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

मायावाद एक तत्त्व है। इस तत्त्व की जीवनी लिखते समय तत्त्ववादियों की आलोचना करना ही सुसङ्गत होगा। क्योंकि मायावाद-तत्त्व एक गुण जातीय द्रव्य है। यह किसी वस्तु-विशेष को आश्रय कर अपनी सत्ता प्रकाश करता है। अतः गुण के साथ-साथ गुणी की आलोचना करना ही युक्तिसंगत है। ऐसे प्रसंगों पर उनकी तुलनात्मक आलोचना नहीं होने से उस विषय का किसी प्रकार भी स्पष्टीकरण नहीं होता।

जीवनी और इतिहास

जिस उद्देश्य को लेकर जीवनी की आलोचना की जाती है, वह उद्देश्य किस हद तक सफल रहेगा, मेरे लिये यह कहना कठिन है। फिर ऐतिहासिक तत्त्व-मूलक जीवनी और साधारण जीवनी एक नहीं। ऐतिहासिक तत्त्वमूलक जीवनी से सर्व प्रकार के उद्देश्य साधित हुआ करते हैं, अर्थात् जो प्रकृत सत्य है, उसे जानने का हम भरपूर सुयोग पाते हैं। क्योंकि साधारण जीवनी-लेखक उसके निज अनुमोदित अंशमात्र को ही प्रकाश कर तृप्ति-बोध करता है। दूसरी तरफ, इतिहास आलोचक समस्त प्रकृत घटना को प्रकाश कर पाठकों को यथावत् तथ्य का संधान देता है। इसीलिये मैं निरपेक्ष भाव से ऐतिहासिक सत्यता-मूलक "मायावाद की जीवनी" लिखने के लिये प्रवृत्त हुआ। मायावाद की जीवनी की आलोचना करते हुए मैंने तदाश्रित मायावादियों की जीवनी को ही प्रधानरूप से अवलम्बन किया हूँ। मायावादियों की जीवनी की सुचारु-रूप से आलोचना किये जाने में प्रसंगवशातः अन्य मतवादियों एवं वैष्णवों की भी आलोचना आपड़ती है। क्योंकि तुलनामूलक विचार ही विचार है, अन्यथा उसके यथार्थ तथ्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। मायावादाश्रित मनीषियों में जगद्वरेण्य पूज्यपाद आचार्य श्री श्रीमद् शङ्कर ही सर्वप्रधान एवं आदर्श हैं। इसीलिये इनकी जीवनी और क्रिया-कलापों के ऊपर ही मायावाद की जीवनी अत्यधिक परिमाण में निर्भर करती है।

अनुकूल अनुशीलन

वेदान्त के "तत् तु समन्वयात्" (१-१-४) सूत्र से स्पष्ट है कि तद्वस्तु सम्यक्रूप अन्वय अर्थात् अनुकूल पथ के अवलम्बन से प्राप्त होता है। व्यतिरेक पथ वक्र और विषम होता है। गौड़ीय वैष्णवाचार्य मुकुट-मणि श्रील-रूप गोस्वामीपाद ने अपने "श्रीभक्ति-रसामृत-सिन्धु" के प्रारम्भ में ही लिखा है-- "आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्" अर्थात् कृष्ण का अनुशीलन एकमात्र अनुकूल भावों के अङ्गीकार करने से होता है। सुतरां किसी भी जीवनी-तत्त्व के अनुशीलन के लिये अनुकूल-भाव ग्रहण करना ही प्रशस्त होता है। अनुकूल पथ के अवलम्बन से प्रतिकूल-वर्ज्जन जिस प्रकार आनुसङ्गिक है, उसी प्रकार अवश्यम्भावी भी है। "हरिभक्ति-विलास" का कथन है- "आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य विवर्जनम्" (११-४१७)। भक्ति का प्रतिकूल वर्ज्जन अनुकूल अनुशीलन का ही विशेष अङ्ग है। मैं मायावाद या अद्वैतवाद की जीवनी की तुलनामूलक आलोचना भक्तिपथ के अनुकूल समझता हूँ। सहृदय पाठकवर्ग इसे धीरभाव से मनन करें तभी उनके हृदय में भक्ति दृढ़तर होगी।

वैदिक युग और मायावाद

भारतीय सनातन धर्मावलम्बियों में 'मायावाद' शब्द का प्रचलन देखा जाता है। किन्तु वेद-उपनिषदादि ग्रन्थों में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। वैदिक-युग में 'मायावाद' शब्द का उल्लेख न रहने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मायावाद चिन्ता-स्रोत के लिये तबतक कोई भी कारण उपस्थित न हुआ था। युगसृष्टि के पूर्वतक वेदों के अधिष्ठान के सम्बन्ध में आर्य सनातन-धर्मावलम्बियों में परस्पर कोई मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। वेद अपौरुषेय हैं। अतः सत्-सम्प्रदायों के लिये वह निजस्व अथवा स्वरूप की सम्पत्ति है। काल-सृष्टि होने के पहले अथवा प्राग्-युग में मायावाद के विचार-धारा की गन्ध भी न थी। इधर वैदिक युग में भी इसकी सत्ता वर्तमान न रहने के कारण इसे वैदिक धर्म भी नहीं कहा जा सकता। वैदिक युग में वैदिक धर्म का ही पालन होता था। शास्त्रों में मायावाद को अवैदिक कहने का यह भी एक प्रधान कारण है, ऐसा प्रतीत होता है।

'एकमेवाद्वितीयम्' ही मायावादियों का मूलमन्त्र है। अद्वयवाद या अद्वैतवाद मायावाद का अपर नाम है। किसी-किसी का मत है 'सोऽहं', 'अहं ब्रह्मास्मि,' प्रभृति वेदों के कतिपय मन्त्र साधारण विचार से मायावाद का कथंचित पोषण करते हैं। युगचतुष्टयों के पूर्व 'मैं ही भगवान् हूँ', 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ', 'तुम भी वही ब्रह्म हो'—ऐसी उक्तियाँ जीव-स्वरूप के पक्ष में सम्भव न थीं। क्योंकि वेद वज्र-गम्भीर शब्दों से पुकार रहे हैं,—"ॐ तद्विष्णोः, परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।" इस वाक्य में बहुवचनान्त 'सूरयः' अर्थात् सूरिगण तद्वस्तु विष्णु को ही एकमात्र परतत्त्व जानकर उनका परमपद सदा अर्थात् नित्यकाल दर्शन करते हैं। यहाँ दृश्य वस्तु एक और अद्वितीय, तथा दर्शकों का बहुत्त्व और पृथकत्त्व लक्षित होता है। अतः सनातन सूरिगणों के पक्ष में विष्णु के परमपद के प्रति 'सोऽहं' प्रभृति वाक्य-समूह का मायावादानुरूप अभिव्यक्ति लक्ष्य नहीं की जाती है।

मायावाद के जन्म का कारण

जीवों का जो नित्य-स्वभाव या नित्य-स्वरूप है, उससे पतित होने से उसे द्वितीय वस्तु में अभिनिविष्ट होना पड़ता है। इसीसे उसके सामने तरह-तरह की विपत्तियों की आशंका भी उपस्थित होती है। वेदों के सङ्कलनकर्त्ता वेदव्यास का कथन है--

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः।" (श्रीमद्भागवत ११/२/३७)

सूरिगण की तरह विष्णु अथवा कृष्ण के नित्य दर्शन (अर्थात उनकी नित्यसेवा) से विच्युति को ही द्वितीयाभिनिवेश कहते हैं एवं उसी से मायाग्रस्त रूप भय की उत्पत्ति होती है। उस समय "कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि-बहिर्मुख"❀ अर्थात् कृष्ण को भूलकर वह जीव अनादि बहिर्मुख हो जाता है, इसी बहिर्मुखता के क्रम से ही जीव माया के अधीन होते हैं। यही मायावश्यता ही भोग-वांछा है। पण्डित जगदानन्द ने कहा है,—

'कृष्ण बहिर्मुख हञा भोगवांछा करे।
निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥"
(प्रेम विवर्त्त)

अर्थात् जब जीव भगवान् कृष्ण से बहिर्मुख होकर भोगवांछा करता है, उसी समय समीपस्थ मायादेवी उसे धर दबाती है।

जीव मायाग्रस्त होने के साथ-ही-साथ अपना स्वरूप भूल जाता है। ऐसी अवस्था में वह भोक्तृ-अभिमान के कारण 'कृष्ण-स्वरूप' की समता कर बैठता है। भगवान् भक्तों के निकट आनन्द लाभ कर अथवा आत्माराम होने के कारण परमानन्द में मग्न हैं। भगवान् के इस आनन्द-भोक्तृत्त्व के एकच्छत्र अधिकार के प्रति ईर्षायुक्त होकर जीव उस पद पर स्वयं आरूढ़ होने की वासना करता है—यही अहं-ग्रह-भाव या पूर्ण बद्धावस्था है। इस प्रकार बद्धावस्था की बद्धधारणा से ही अर्थात माया द्वारा कवलित होने के बाद से ही जीव मायावादरूपी रोग द्वारा आक्रान्त हुआ। उसी समय से 'सोऽहं' वादरूप मायावाद के जन्म का कारण हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। अतः ईश-विमुख जीव ही मायाश्रयी अथवा मायावादी हो पड़ा है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि ईश-भ्रान्ति और ईश-विमुखता ही मायावाद के जन्म के मूल कारण हैं।

भोगवासना उत्पन्न होने के साथ-ही-साथ जीव मायिक जगत में पतित हो जाता है। तब वह मायिक-युग और मायिक-काल के भीतर "अस्ति-नास्ति", 'अहं-मम', 'सत्-असत्' प्रभृति विचारों के भीतर प्रवेश करता है। सत्य वस्तु को मिथ्या, मिथ्या वस्तु को वह सत्य समझता है। जगत् स्वप्न तुल्य मिथ्या है, भ्रान्तिमय अथवा भ्रान्ति से ही जगत् की उत्पत्ति है; तत्त्व-वस्तु शक्ति हीन, लीला-विलास शून्य तथा-निर्विशेष है, प्रभृति अनेक धारणाएँ करता है।

मायावाद किसे कहते हैं?

मायावाद का दूसरा नाम विवर्त्तवाद है। वेदों में विवर्त्तवाद के जो उद्धरण देखे जाते हैं, वे अद्वै-

❀ अनादि बहिर्मुख कहने का कारण यह है कि काल-सृष्टि होने के पूर्व ही जीवों की यह भगवद् बहिर्मुखता आरम्भ होती है। जीवों की यह भगवद्-बहिर्मुखता कब संघटित होती है, इसका निश्चय नहीं होने से यह बहिर्मुखता अनादि है।

तवादियों के प्रचारित अद्वैतवाद से सर्वथा पृथक हैं। देह में आत्मबुद्धि होना ही विवर्त्त है। ब्रह्म में जगत-भ्रम, यह वैदिक विवर्त्त नहीं, मायावाद है। आचार्य शंकर का विवर्त्तवाद ही 'मायावाद' है। मायावाद की जीवनी कहने से विवर्त्तवाद की भी जीवनी समझी जाती है। प्रकृत मायावाद किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में प्रसंगवशतः स्थान-स्थान पर आलोचना की जायगी। सम्प्रति संक्षेप में निर्देश दिया जा रहा है—

'माया' शब्द साधारणतः जड़ शक्ति या अविद्या शक्ति को लक्ष्य करता है। यह तत्त्व-वस्तु के स्वरूप-शक्ति की छाया या प्रतिबिम्ब है। इस छायाशक्ति का चित् जगत् में प्रवेश करने का अधिकार नहीं। यह जड़ जगत की अधिकर्त्री है। जीव इसी मायाद्वारा आक्रान्त हो जड़ जगत में बद्ध होकर मायावाद का आश्रय ग्रहण करता है। मायावाद का यह कथन है कि माया नामक कोई भी शक्ति नहीं। माया को बाद देकर ही ब्रह्म की स्थिति है। वे निः-शक्तिक हैं। मायिक तर्क और युक्ति द्वारा इस मत को स्थापना करने की चेष्टा करने के कारण ये तर्कपन्थी-गण 'मायावादी' नाम से प्रसिद्ध हैं। मायिक युक्ति के बल पर मायावाद का कथन है कि—'जीव ही ब्रह्म है', केवल माया की क्रिया से ब्रह्म विभिन्न जीवरूप से दिखलाई पड़ता है। किन्तु माया दूर होते ही जीवों की पृथक् सत्ता नहीं रहती। जब-तक माया है, उसके आवरण में जीव रहेगा। जो लोग माया के सहित जीव का ऐसा सम्बन्ध स्थापन करते हैं वे ही मायावादी हैं अर्थात् वे लोग वेद-वेदान्त को न मान कर बलपूर्वक मायिक तर्क द्वारा कहते हैं—"माया दूर होने से जीव का कोई पृथक् अस्तित्त्व न रहेगा। जीव की मायामुक्ति, इस प्रकार की कोई भी विशुद्ध अवस्था नहीं।" मायावादियों का यह कुसिद्धान्तमूलक विचार है। मायावाद में जीव की नित्य-शुद्ध सत्ता की कोई भी अवस्था स्वीकृत नहीं, आपितु मायावाद प्रमाणित करना चाहता है कि ईश्वर भी माया द्वारा ग्रस्त तत्त्व है। ऐसा होने से तो ईश्वर को भी माया-मुक्त होने की आवश्यकता आ पड़ती है। ऐसी अवस्था में ईश्वर और जीव में वस्तुतः पार्थक्य ही क्या रहा? केवल मात्र कर्मफल से अतीत अवस्था तथा कर्मफल की बाध्यता ही ईश्वर और जीव के भेद को निरूपण करती है, ऐसा समझ कर तत्त्व निर्देश किये जाने से ही मायावाद आ पड़ता है। यदि जीव और ईश्वर-तत्त्व का ऐसा निरूपण किया जाय तो इसकी अपेक्षा अधिक शोचनीय सिद्धान्त और क्या हो सकता है? यही उनके माया ग्रस्त होने का प्रधान लक्षण है एवं इसके द्वारा वे निर्विकल्प में भी उद्धार लाभ न कर सकेंगे। उनका निर्वाण एक मिथ्या और काल्पनिक विचार मात्र है। ऐसे निर्वाण या निर्विकल्प मुक्ति का कहीं भी कोई प्रमाण या दृष्टान्त नहीं। अतः मायावाद की, वेद-वेदान्तानुग विशुद्ध पारमार्थिक सम्प्रदायों में गणना नहीं की जा सकती—यही क्रमशः ऐतिह्य के प्रमाणों के आधार पर प्रदर्शित होगा। (क्रमशः)

भीष्म-युधिष्ठिर-संवाद

(कर्म का प्रभाव)

महाभारत का युद्ध अभी-अभी शेष हुआ है। कुरुक्षेत्र में बड़े बड़े शूर-वीरों की लोथें एक दूसरी पर लदीं हैं। चारों ओर रक्त-ही-रक्त दृष्टिगोचर होता है। बीच-बीच में कटे रूण्ड-मुण्ड इतस्ततः बिखरे पड़े हैं। कल जहाँ वीरों की हुँकार से मेदिनी प्रकम्पित होती थी आज वहीं श्वान-शृगालों का क्रीड़ा-स्थल बना है। कर्म की गति बड़ी गहन है। लोग देख सुनकर भी नहीं देखते।

कुरुकुल चूड़ामणि शान्तनुनन्दन कुरुक्षेत्र में शर-शय्या पर सोये हैं। युधिष्ठिर भगवान्कृष्ण और अपने भाइयों के सहित पितामह का दर्शन करने के लिये वहाँ उपस्थित हुए। उन लोगों ने देखा कि वहाँ देवों जैसी सभा लगी है। व्यासादि महर्षिगण भीष्म को चारों ओर से घेर कर बैठे हैं। भीष्म को देखते

ही वे अपने-अपने रथों से उतर पड़े और महर्षियों को अभिवादन कर भीष्म के चारों तरफ बैठ गये।

भगवान् वासुदेव प्रशान्त-पावक-सदृश भीष्म के दर्शन कर उन्हें सम्बोधित कर बोले -हे शान्तनु-तनय! आपकी चेतना पूर्ववत् निर्मल तो है? बाणों के लगने से आपका शरीर नितान्त अवसन्न तो नहीं हो रहा है? मानसिक दुःख की अपेक्षा शारीरिक दुःख ही कतिपय अंशों में अधिक बलवान होता है। शरीर में एक क्षुद्र कण्टक विंध जाने से मर्मान्तक पीड़ा का अनुभव होता है, फिर आपका शरीर तो शर-समूह से विद्ध हो रहा है। इससे आपको किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं होता? जैसा भी हो, जब आप देवताओं को भी उपदेश प्रदान करने में समर्थ हैं, तो आपके लिए प्राणियों के जन्म-मृत्यु का रहस्य व्यक्त करना कुछ विशेष बात नहीं। आप ज्ञान-वृद्ध हैं, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कुछ भी आपके लिए अविदित नहीं। प्राणियों की मृत्यु और सत्कार्यों का फलोदय किस प्रकार होता है, आप इस विषय को विशेषरूप से जानते हैं। आप सत्य-धर्म परायण एवं परम शक्ति सम्पन्न महापुरुष हैं। आपने तप के प्रभाव से मृत्यु का भी अतिक्रमण किया है, त्रिलोक में कभी भी ऐसा सुना नहीं गया। आप अपने बल-वीर्य के प्रभाव से स्वर्गलोक में भी विख्यात हैं और अपने सद्गुणों के प्रभाव से देवताओं के वंदनीय भी हैं। महाराज युधिष्ठिर कुल-क्षय के कारण अत्यन्त विषाद्-ग्रस्त हुए हैं, सुतरां आप इनका शोक अपनोदन करें। आप जैसे महात्मा ही मोहाविष्ट मानवों के सान्त्वना के सम्बल होते हैं।

महात्मा भीष्म ने वासुदेव के ऐसा कहने पर अपनी आँखें खोलीं। उनके सारे शरीर में रोमांच हो आया—भगवान सामने खड़े थे। वे गद्गद् हो गये। उन्होंने अपना वदन-मण्डल कुछ उन्नत कर अञ्जलि-बद्ध हो कहने लगे—हे वासुदेव! आप ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहारकर्त्ता हैं। कोई भी आपको पराजित नहीं कर सकता। आप नित्य-मुक्त और सनातन हैं। आप चेतन-अचेतन सबके आश्रय हैं। हे कृपावारिधि पुरुषोत्तम, मैं आपका दीन हीन दास हूँ—अपनी अभिलषित गति लाभ करने के लिये आपका शरणापन्न हुआ हूँ, आप हमारा मंगल करें।

राजा युधिष्ठिर ने कहा—पितामह, अनजान में किये हुए पाप कर्मों के लिए बुद्धिमान व्यक्तियों को अनुताप करना सर्वथा अनुचित है। किन्तु जानबूझ कर पाप कर्मों के आचरण से भला कब शान्ति मिल सकती है? आज आपका शरीर बाणों से विद्ध हो क्षत-विक्षत हो पड़ा है, उससे निरन्तर रक्त-प्रवाहित हो रहा है—यह हमारे ही कुकर्मों का परिचय दे रहा है। इसे देखकर मुझे किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिल रही है। हमारे लिये आपकी ऐसी दुर्दशा हुई—इससे बढ़कर हमारे लिये और क्या दुख होगा? ये सारे नृपतिगण हमारे लिये ही अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवों के सहित समरशायी हुये हैं। इन लोगों की ऐसी दुरवस्था देख मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। हाय! हम दोनों पक्षों ने क्रोध के वशीभूत होकर ऐसा गर्हित कर्म किया है, कह नहीं सकता—आगे चलकर इन पापों के प्रभाव से हमारी क्या दुर्गति होगी? मैं ही सारे अनर्थों की जड़ हूँ। शर-शय्या पर सोये हुए आपका विषण्ण-वदन अवलोकन कर मुझे असीम दुःख हो रहा है। दुर्योधन कुरुकुल का कलंक-स्वरूप होकर भी अपने बन्धु-बान्धवों के तथा सैन्य-वर्ग के साथ क्षत्रिय धर्म के अनुसार समराग्नि में अपने प्राणों की आहुति देकर हमारी अपेक्षा कहीं अधिक सुखी है। आज उसे आपकी यह दुर्दशा तो देखनी नहीं पड़ रही है। इस समय मेरे लिये जीवन की अपेक्षा मृत्यु ही वांछनीय जान पड़ती है। अगर मैं भी इस युद्ध में मारा गया होता तो आपकी ऐसी करुण अवस्था तो न देख पाता। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि विधाता ने ऐसे पाप कर्मों को कराने के लिये ही हमारी सृष्टि की है। आप तत्वदर्शी महात्मा हैं, परलोक में इन पापों से हम किस तरह परित्राण पा सकेंगे—हमें उपदेश प्रदान कीजिये।

भीष्म बोले—धर्मराज, तुम्हें शोक करना उचित नहीं; काल, अदृष्ट और ईश्वर के अधीन इस आत्मा को तुम किसलिए पाप-पुण्य का कारण समझ रहे हो? जड़ और चेतन पृथक पृथक तत्व हैं। आत्मा चेतन और देह जड़ है। इस जड़ देह को आत्मा समझने को 'देहात्मबुद्धि' कहते हैं। देहात्मबुद्धि होने

से इस नश्वर जड़ शरीर के सुख-दुःख आत्मा पर आरोपित किये जाते हैं। वस्तुतः आत्मा किसी भी कार्य का कारण नहीं हो सकती। इस विषय में एक पौराणिक उपाख्यान सुनो—

"प्राचीनकाल में गौतमी नाम की एक वृद्ध ब्राह्मणी थी। वह बहुत ही शान्त स्वभाव की थी। उसके एक ही पुत्र था। वह उसे बहुत ही प्यार करती—वही उसका एकमात्र सहारा था। दैवात् एक दिन एक विषधर सर्प ने उसके बच्चे को काट लिया और देखते-ही-देखते उसकी मृत्यु हो गई। पासही अर्जुनक नामक एक बहेलिया खड़ा था। वह तुरत ही उस सर्प को पकड़ कर गौतमी के निकट लाकर कहने लगा—देवि, इस अधम सर्प ने तुम्हारे पुत्र का दंशन कर लिया है। कहिये, इस सर्प का विनाश किस तरह करूँ? इस शिशु-घाती सर्प को जीवत रखना उचित नहीं। अतएव आप शीघ्र आज्ञा दें,—इसे आग में जला दूँ अथवा इसकी बोटी-बोटी अलग काट कर फेंक दूँ।

गौतमी क्षणभर तक निस्तब्ध रही। फिर बोली—अर्जुनक, तू नितान्त अबोध है। इसे छोड़ दे। भला ऐसा कौन बुद्धिमान व्यक्ति होगा जो उत्कृष्ट लोक पाने की आशा परित्याग कर स्वयं पापों के भार से पीड़ित होना चाहता है? जो धार्मिक हैं, वे अनायास ही दुःख-सागर को पार कर सकते हैं। किन्तु पापी व्यक्ति निदारुण कष्टों को भोगता हुआ उसी में निमज्जित हो जाता है। देखो, इस सर्प का बध करने से मेरा पुत्र फिर जीवित न हो सकेगा, साथ-ही-साथ इसकी जीवन-रक्षा करने से मुझे तनिक भी क्षति-ग्रस्त होने की सम्भावना नहीं। ऐसी परिस्थिति में इसका प्राण-विनाश कर, ऐसा कौन होगा जो अनन्तकाल तक नरक भोगने की इच्छा करेगा? तुम इसे छोड़ दो।

बहेलिया ने कहा—देवि, महद्व्यक्ति स्वभावतः पर-दुःख-दुःखी होते हैं आप जो कुछ कह रहीं हैं—वह शोक-शून्य व्यक्ति के लिये उपयुक्त है। परन्तु आपके हृदय में पुत्र-शोक वर्त्तमान है। आप आदेश करें—इस दुष्ट सर्प का विनाश करूँ। जो शान्त-प्रकृति के लोग हैं, वे 'काल' को किसी अप्रिय घटना का कारण समझ शोक परित्याग करते हैं। किन्तु जो प्रतिकार के इच्छुक होते हैं, उनका शोकानल शत्रु-नाश के द्वारा ही शान्त होता है, और जिनमें इन दोनों गुणों का अभाव है, वे मोहवशात् सर्वदा ही अप्रिय के लिये शोक करते हैं। अतः आप इस सर्प का विनाश कर पुत्र-शोक का परित्याग करें।

गौतमी ने समझाया—व्याध! धार्मिक व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होते। वे सतत् विवेक का अवलम्बन करते हैं। मेरा पुत्र पहले ही मृत्यु का शिकार बन चुका था, इसीलिये इस सर्प ने इसे काटा है। अतः किसी भी दशा में मैं इस सर्प का संहार नहीं कर सकती। साधारणतः ब्राह्मणों को क्रोध प्रकाश करना उचित नहीं। क्रोध से मानसिक पीड़ा होती है। मुझे इस विषय में क्रोध का कुछ भी कारण नहीं दीखता। तू इसे क्षमा कर छोड़ दे।

बहेलिया बोला—देवि, शत्रु का विनाश करने से अक्षय धन और कीर्त्ति प्राप्त होती है। अतएव काल विलम्ब न कर इसे मारना ही उचित जान पड़ता है।

गौतमी ने फिर कहा—इस सर्प के मारने से न तो मुझे आनन्द ही मिल सकता है और न तो इसे दृढ़ बंधन में रखने से मुझे कोई फल ही मिलेगा, अतः इसे क्षमा करना ही कर्त्तव्य है।

इस पर व्याध ने कहा—सुभगे, इस एक सर्प को मारने से बहुतों के प्राणों की रक्षा हो सकेगी। अतएव अनेक प्राणियों की जीवन-रक्षा में उदासीन रह कर इसकी रक्षा करना युक्ति-युक्त ही नहीं, अपितु अनुचित है। विज्ञ लोग अपराधियों को प्राण-दण्ड देते हैं। अतएव अविलम्ब इस पापिष्ठ को मारना ही उचित है।

गौतमी बोली—इस सर्प के विनाश से न तो मेरा पुत्र ही कदापि पुनर्जीवित हो सकता है और न मुझे पुण्यप्राप्ति की ही संभावना है। अतः इसे छोड़ दे।

अपने विचारों को बल देते हुए व्याध ने पुनः कहा—देवि, सुरराज इन्द्र ने बृत्रासुर का बध कर श्रेष्ठत्त्व लाभ किया है, रूद्रदेव ने भी दक्ष-यज्ञ का विनाश कर यज्ञ-भाग पाया था, फिर आप भी उनके पथ का अनुसरण कर निःसंकोच इसका बध करें।

बहेलिये के द्वारा सर्प के विनाश करने के लिये बार-बार कहे जाने पर भी गौतमी का मन तनिक भी विचलित न हुआ। इसी समय पाश-निपीड़ित सर्प धैर्य अवलम्बनपूर्वक मृदु-स्वर से बहेलिये से कहने लगा—अरे मूर्ख, इसमें मेरा क्या अपराध है? मैं तो पराधीन हूँ। मैंने मृत्यु की प्रेरणा से ही इस शिशु को दंशन किया है। इसलिये इसका उत्तरदायित्व मृत्यु के ऊपर है।

बहेलिया ने सर्प से कहा—सर्प, यद्यपि तुमने दूसरे के वशवर्ती होकर ही इस पाप कर्म को किया है, तथापि तुम ही इसका प्रधान साधन हो। अतएव तुम्हीं दोषी हो। चक्र और डंडा जिस प्रकार मिट्टी के बर्त्तनों के निर्माण में साधन हैं, उसी प्रकार तुम्हीं इस बालक के प्राण-विनाश में साधन हो। अतएव तुम जब दोषी स्थिर हो रहे हो तब तुम्हारा विनाश करना ही मेरा परम कर्त्तव्य है।

पर, भाई! सर्प ने कहा—चक्र और डंडा जैसे पराधीन हैं, मैं भी वैसे ही पराधीन हूँ। अतः केवल मुझे ही क्यों दोषी निर्देश कर रहे हो? चक्र-डंडादि जिस प्रकार परस्पर एक दूसरे का प्रयोजक हैं—मैं, काल, और मृत्यु प्रभृति सभी परस्पर एक दूसरे के प्रेरक हैं। अतः ऐसी अवस्था में मैं कभी भी अकेला इसके लिये दोषी और दण्डनीय नहीं। यदि दोष स्वीकार किया जाय तो इसके लिये हम तीनों ही दोषी हैं।

बहेलिया ने तमक कर कहा—मैं तुम्हें किसी प्रकार भी छोड़ नहीं सकता यद्यपि मृत्यु उसके विनाश का प्रधान कारण है तथापि वह किसी प्रकार भी इसका विनाशकर्त्री नहीं। तुम ही इस विनाश के प्रधान साधन हो। अतएव तुम्हारा ही बध करना उचित जान पड़ता है। यदि असत्-कार्यों के करने पर भी पाप न लगे तो सारे शास्त्र मिथ्या हो जायेगें और राज्य भी चोरों तथा अपराधियों को दण्ड न दे सकेगा।

सर्प ने विनीत भाव से निवेदन किया—प्रयोजक-कर्त्ता वर्तमान रहने पर भी प्रयोज्य-कर्त्ता के बिना कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं होती। यही कारण है बाह्यतः प्रयोज्य-कर्त्ता को ही कार्य का साधक (प्रधान-कारण) समझा जाता है। उसी प्रकार इस शिशु के विनाश-कार्य में मुझे प्रयोज्य-कर्त्ता होने के कारण दोषी समझ रहे हो। किन्तु विशेष विचार करने से तुम्हें मालूम पड़ेगा कि मृत्यु ही इस में दोषी है।

बहेलिया ने कहा—रे दुष्ट, तू बड़ा ही निर्बोध, नृशंस और शिशु-घाती है। व्यर्थ ही, गाल बजा रहा है मैं अवश्य ही तेरा बध करूँगा।

सर्प ने पुनः व्याध को समझाया—वनचर, ऋत्विक्गण यजमानों के द्वारा प्रेरित होकर आग में आहुति प्रदान करते हैं, फिर भी वे उसके फल के भागी नहीं होते। मैंने शिशु का दंशन तो अवश्य किया है, पर मृत्यु के आदेश से। अतः मैं भी फल का भागी नहीं। तुम आखिर बलपूर्वक मुझे ही दोषी क्यों बना रहे हो?

सर्प और बहेलिया परस्पर तर्क-वितर्क कर ही रहे थे कि मृत्यु भी वहाँ आ पहुँची और सर्प को सम्बोधन कर बोली—सर्प, काल द्वारा प्रेरित होकर ही मैंने तुम्हें इस शिशु के प्राण-विनाश के लिये भेजा था। सुतरां हम दोनों में से कोई भी इसके विनाश का कारण नहीं। इस भूमण्डल पर सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक समस्त प्राणी काल के अधीन हैं; स्वर्ग और मर्त्य के स्थावर-जंगात्मक जितने पदार्थ हैं, सभी काल के अधीन हैं। फलतः समस्त जगत ही काल के अधीन है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही काल के अधीन हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, अश्विनीकुमार, अदिति, नदी, पर्वत, समुद्र, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, सम्पत्ति, और विपत्ति—इन सबकी काल बारम्बार सृष्टि और संहार करता है। हे सर्प, सभी कुछ जानते हुए भी तुम मुझे क्यों दोषी बना रहे हो? अगर तुम मुझे दोषी समझ रहे हो तो तुम्हारे निर्दोष होने का क्या प्रमाण है?

सर्प ने कहा—मृत्यो! मेरा कथन आपको दोषी या निर्दोष कहने के लिये नहीं। मेरा तो केवल यही कहना है कि आपने ही मुझे शिशु का वध करने के लिये आदेश दिया था। इसमें काल का कुछ दोष है या नहीं, मैं उसका विचारक नहीं। मेरा उद्देश्य

तो केवल अपनी सफाई देने का है, न कि आपको दोषी प्रतिपन्न करने का।

पाश-बद्ध सर्प ने मृत्यु से ऐसा कहकर बहेलिये से कहा—हे बनचर, तुमने अब मृत्यु की भी बातें सुनली, अतः मुझ निरपराध को पाश-मुक्त करना तुम्हारा नितान्त कर्त्तव्य है।

बहेलिया ने कहा—मैंने तुम्हारी और मृत्यु दोनों की बातें अच्छी तरह सुन ली, किन्तु तुम दोनों की निर्दोषिता किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होती। अतः तुम दोनों ही दोषी ठहरे। तुम्हारे समान इस संसार में साधुओं को सतानेवाला दुष्ट, दुरात्मा तथा क्रूर दूसरा और कोई नहीं। तुम्हें धिक्कार है। मैं अवश्य ही तुम्हारा बध करूँगा।

मृत्यु बोली—निषाद, हमें काल के वशीभूत होकर कार्य करना होता है। अतएव हमारे ऊपर दोषारोपण करना तुम्हें उचित नहीं।

बहेलिया ने कहा—अगर मुझे काल के अधीन जानकर क्रोध प्रकाश करना उचित न हो तो किसी भी व्यक्ति के उपकारों की प्रशंसा अथवा अपकारों की निन्दा करना भी उचित नहीं।

मृत्यु ने कहा—वनचर, मैंने तो पहले ही कहा है कि प्राणीगण किसी भी कार्य का अनुष्ठान क्यों न करें, काल द्वारा प्रेरित होकर ही ऐसा करते हैं। अतएव अपकारी की निंदा और उपकारी की स्तुति करना बुद्धिमानों को उचित नहीं। काल की प्रेरणा से ही हम इन कार्यों का अनुष्ठान करते हैं। अतः हमें व्यर्थ ही अपराधी बनाना उचित नहीं।

इसी प्रकार जब मृत्यु बहेलिये को समझा ही रही थी कि वहाँ काल भी आ पहुँचे और बहेलिये को सम्बोधन कर बोले—हे निषाद, क्या मैं, क्या मृत्यु, क्या सर्प इनमें से कोई भी इस लड़के के प्राण-विनाश के लिये अपराधी नहीं। इसका पूर्व-अनुष्ठित कर्म ने ही इसके विनाश-साधन के लिये बाध्य किया है। फल-स्वरूप लड़का अपने किये हुए कर्मों के वशीभूत होकर ही विनाश को प्राप्त हुआ है। अतएव कर्म को ही इसके विनाश का कारण समझना उचित है। कर्म ही पुत्र की तरह आचरण द्वारा प्राणियों की पाप से रक्षा करता है और कर्म ही परम शत्रु की तरह आचरण द्वारा असीम दुःख-समुद्र में निमग्न करा देता है। कर्म ही मानवों के पाप-पुण्य का प्रकाशक है। मनुष्य जैसे कर्मों के वशीभूत है, कर्म भी वैसे ही मनुष्य के आयत्त है। कुंभकार जिस तरह मिट्टी से स्वेच्छानुसार विभिन्न प्रकार के वर्त्तनों का निर्माण करता है, मनुष्य भी उसी प्रकार स्वेच्छा से कार्य करता है। धूप और छाया की तरह कर्त्ता और कर्म परस्पर सुसम्बद्ध हैं। अतएव, क्या मैं, क्या मृत्यु, क्या सर्प, क्या तुम, क्या बुढ़िया, अथवा हममें से कोई भी इस शिशु के प्राण-विनाश का कारण नहीं है। शिशु का पूर्व कृत कर्म ही उसके बध का कारण है।

काल की बात सुनकर बृद्धा गौतमी ने बहेलिए से कहा—अर्जुनक! समग्र जगत ही अपने कर्म के अधीन है। काल, सर्प या मृत्यु मेरे पुत्र के विनाश का कारण नहीं हो सकती। मेरी संतान अपने ही कर्म-दोष से निहत हुई है। मुझे भी अपने कर्म के अनुसार पुत्र-शोक प्राप्त हुआ है। अब काल और मृत्यु अपने-अपने स्थानों को चले जाँय और तुम भी इस सर्प को छोड़ दो।

× × × ×

भीष्म पितामह बोले—"धर्मराज! महानुभवा ब्राह्मणी के ऐसा कहने पर काल और मृत्यु अपने अपने स्थानों को चले गये। अर्जुनक ने भी पाश-बद्ध सर्प को मुक्त कर दिया, और गौतमी ने भी पुत्र-शोक परित्याग कर शान्ति लाभ किया। अतएव तुम भी मनुष्यमात्र को कर्म के अधीन जानकर शोक परित्याग कर शान्ति लाभ करो। इस लोक में सभी अपने-अपने कर्मों से ही पुनः पुनः जन्मते और मरते हैं। तुम्हारे बन्धु-बान्धवगण या नृपतिगण जिन्होंने इस संग्राम में प्राण परित्याग किया है, उनके विनाश में तुम्हारा अथवा दुर्योधन का तनिक भी दोष नहीं। अपने-अपने कर्मों के वश होकर काल के प्रभाव से उन्हें शरीर त्यागना पड़ा है।"

शरणागति

(ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर)

भजु मन श्रीचैतन्य महाप्रभु ।
करिकै दया जगत-जीवन पै, निज पार्षद, निज धाम साथ लै ।
लीन्हो है अवतार विष्णु विभु ॥ भजु० ॥
दीन्हो प्रेम-दान दुर्लभ अति, सिखलाई भगतन सरनागति ।
भक्त-प्रानधन, जीवन सरबस ॥ भजु० ॥
आत्म-निवेदन, दैन्य-प्रकासा, रखिहौं उर ऐसो बिस्वासा—
रक्षा करिहै कृष्ण अवसि बस ॥ भजु० ॥
गोप्ता जानि बरन मन लाई, काज भक्ति अनुकूल सोहाई ।
काज भक्ति-प्रतिकूल त्याग कर ॥ भजु० ॥
षट् प्रकार सरनागत जो जन,मन लावै सब विधि हरि-चरनन ।
सुनैं प्रार्थना नन्द-सूवन बर ॥ भजु० ॥
दाँत दाबि तृन रूप सनातन-पायन पर्‌यो पकरि युग-चरनन ।
"भक्ति-विनोद" करै सु निवेदन ॥ भजु० ॥
रोइ-रोइ कह अधम मन्दमति, हौं मैं मोहि सिखाइ सरनागति ।
प्रभु बनाइए उत्तम जीवन ॥ भजु० ॥

मीरा के श्रीकृष्णचैतन्य

आजकल सारे भारत पर श्रीचैतन्यमहाप्रभु के नाम-संकीर्त्तन, प्रेम-धर्म एवं दार्शनिक विचारों का गहरा प्राभव पड़ा है । सभी उन्हें स्वयं-भगवान्‌रूप से मानते हैं । कुछ लोग उनकी भगवत्ता में सन्देह-युक्त होकर उन्हें केवल भक्त-रूप से ही स्वीकार करते हैं । इस प्रसंग में भारतीय गौरव-आत्मा विदुषी महिला मीराबाई का विचार, संदिग्ध जनता को पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा । उनका विचार उनके ही शब्दों में नीचे दिया जाता है—

अब तौ हरी नाम लौ लागी ।
सब जग को यह माखन-चोरा, नाम धर्‌यो बैरागी ॥
कित छोड़ी वह मोहन मुरली, कित छोड़ी सब गोपी ।
मूँड़ मुँड़ाइ डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी ॥
मात जशोमति माखन कारण, बाँधे जाके पाँव ।
स्याम किशोर भये नव-गौरा, चैतन्य जाको नाँव ॥
पीताम्बर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै ।
गौर-कृष्ण की दासी मीरा, रसना कृष्ण बसै ॥

श्रीभागवत-पत्रिका के सम्बन्ध में वक्तव्य

इतिहास

परमहंस कुल मुकुट-मणि जगद्गुरु ॐ विष्णु-पाद १००८ श्री श्रीमद्-भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी यतिराज ने हिन्दी-भाषा में धर्मजगत् के सर्वोच्च विचार-धारा को प्रवाहित करने के लिये 'भागवत' नामक एक पाक्षिक-पत्रिका नैमिषारण्य, श्रीपरमहंस मठ से कार्त्तिक-कृष्णा-अमावस्या, गौराब्द ४४५, विक्रमी संवत् १९८८, ९ नवम्बर सन् १९३१ ई० में प्रकाशित किया था । ये पाक्षिक-पत्रिका के रूप में प्रति अमावस्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होती थीं। कुछ वर्षों तक सुष्ठुभाव से प्रचारित होने के बाद उन्होंने आत्मगोपन कर लिया । श्रीगौड़ीय-वेदान्त-समिति उक्त जगद्गुरु श्रील-प्रभुपाद का पादङ्कानुसरण कर, मथुरा श्रीकेशवजी गौड़ीयमठ से पुनः उक्त पत्रिका के सेवा-संकल्प से "श्रीभागवत-पत्रिका" नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित कर रहे हैं ।

नित्यता

'भागवत' नित्य वस्तु हैं । उन्हें पाक्षिक, मासिक अथवा वार्षिक जो कुछ भी क्यों न कहा जाय—यहाँ तक कि दैनिक, दाण्डिक वा अनुपलिक कहे जाने पर भी उनकी नित्यता का व्याघात नहीं होता । इसमें एकमात्र अनन्त के आंशिक काल का ही लक्ष्य किया गया है । जिन्हें अनन्त की धारणा अथवा पूर्णता का ध्यान नहीं, उनके पक्ष में अंश ही उन्हें पूर्णता की ओर अग्रसर करा देता है । फिर भी अंश चिरकाल ही अंश है और पूर्ण भी नित्यकाल पूर्ण होता है। अंश कभी पूर्ण नहीं होता अथवा पूर्णता की समता प्राप्त भी नहीं कर सकता । जो नित्य वस्तु की धारण करने में असमर्थ हैं उनके निकट उसके आविर्भाव तिरोभाव अथवा जन्म-मृत्यु एक मिथ्या कल्पना-मात्र है। यथा—वृन्दावन मथुराधाम नित्य होने पर भी इनका आविर्भाव और तिरोभाव है । श्रीमन्महाप्रभु के अनुगत गौड़ीयजन ही नित्यधाम का अविर्भाव और तिरोभाव संपादन में सक्षम हैं । अन्य साम्प्रदायिक या असम्प्रदायिक वैष्णवगण इसका मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते । श्रीमद्भागत ही इसके एकमात्र प्रमाण हैं । नित्य भागवत का पाक्षिक या मासिक आविर्भाव अशेष नित्य सौन्दर्य का विकाशक है । इसीलिये जगद्-गुरु गौड़ीय-कुल-शिरोमणि उक्त यतिराज-सम्राटने "भागवत" पत्रिका गौर-पक्ष और कृष्ण-पक्ष में प्रकाशित की थी । पूर्णिमा-पक्ष ही गौर-पक्ष तथा अमावस्या पक्ष ही कृष्ण-पक्ष है । सुतरां श्रीमद्भावत शास्त्र गौर तथा कृष्ण उभय पक्षों में ही व्याख्यात, विचारित, आचरित, आदृत, और अनुमोदित होते हैं । सर्वोत्तम विष्णु-तत्त्व अर्थात् गौर-भगवत्-तत्त्व में श्रद्धा या विश्वासहीन सम्प्रदायों को श्रीमद्भागवत का तात्पर्य अवगत करना विशेष आवश्यक है ।

श्री और पत्रिका

'भागवत' शब्द के पूर्व 'श्री' शब्द सन्निवेशित होने से भागवत के नित्यत्व का बोध होता है। सुतरां नित्यता ही भागवत की 'श्री' है । इसके बाद 'पत्रिका' शब्द सन्निवेशित होने से ऐसा समझना चाहिये कि यह पत्रिका भागवत के आचार-विचार तथा सिद्धान्तमूलक वार्त्ता का वहनकारी है । 'पत्रिका' शब्द के द्वारा संवादवाही या वार्त्तावाही प्रभृति समझा जाता है । नित्य भागवत के नित्य वार्त्ता वहन-कारी-स्वरूप से "श्रीभागवत-पत्रिका" पाठकों के समक्ष उपस्थित हो रहे हैं । अनित्य, असनातन, परिवर्त्तनशील और मिथ्या विचार अथवा लेख-माला प्रभृति इनमें प्रकाशित न होंगे । ग्राम्यवार्त्ता, आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि अनर्थ प्रसवकारी कोई भी विषय 'श्री-पत्रिका' में स्थान न पायेंगे । जो सकल काव्य, दर्शन, कविता, लेख प्रभृति भोगमय इन्द्रियतर्पणता का प्रश्रय देते हैं उन्हें "श्री-पत्रिका" की संज्ञा नहीं दी जा सकती । सुतरां विश्री (श्रीहीन) विचार आदरणीय नहीं अर्थात् 'श्री' ही एकमात्र पारमार्थिक सत्य हैं । हम वर्त्तमान जगत् के श्रीहीन विचार-धारा का प्रतिरोध कर अप्राकृत वैकुण्ठ-जगत् की श्रीसम्पन्नवाणी परिवेषण करेंगे । अतः इस पत्रिका ने उक्त वाणी का परिवेषण करने के लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी को यान-वाहन के रूप में अवलम्बन किया है ।

राष्ट्र-भाषा

भाषा, भावों की अभिव्यक्ति है। भाव हृद्गत वृत्ति-विशेष है। यह वृत्ति अथवा भाव जिस कोटि के यान-वाहन का अवलम्बन कर आत्म प्रकाश करता है, उसकी भाषा भी तदनुरूप होती है। यान-वाहन की दुर्बलता के कारण भावों की अभिव्यक्ति भी पूर्णता लाभ नहीं करती। भाषा जितनी ही शुद्ध, उन्नत और पूर्णता की ओर अग्रसर रहेगी, हृद्गत विचार-धारा भी तदनुरूप परिमाण में जन-समाज को प्रत्यक्षीभूत होगी। वर्तमान राष्ट्र-भाषा उन्नति लाभ कर समग्र जीव के भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति करे—इसी आकांक्षा को लेकर हम राष्ट्र-भाषा में वैकुण्ठ-भाव व्यक्त करने के लिये प्रस्तुत हुए हैं।

हिन्दी-भाषा

प्राचीन भारतीय प्रायः भाषा समुदाय ही संस्कृत भाषा से उद्भव हुआ है। वैदिक संस्कृत भाषा ही हमारी आदि भाषा है। इसी भाषा के अपभ्रंश-क्रम से देश, काल और पात्र के अनुसार भिन्न भिन्न भाषाएँ परिलक्षित होती हैं। उनमें हिन्दुस्तान के अधिवासी जिस भाषा में अपने हृदय के भावों का आदान-प्रदान करते हैं, उसी भाषा का नाम 'हिन्दी' है। 'हिन्दू' या 'हिन्दी' ये दोनों शब्द हमारे वैदिक या मौलिक शब्द नहीं हैं। संस्कृत भाषा में इनका व्युत्पत्तिगत अर्थ नहीं पाया जाता। फारस देश के अधिवासी सिन्धुनद के तटवर्ती अधिवासियों को सिन्धु न कहकर हिन्दू कहा करते थे। "वैदिक अथवा शास्त्रीय प्राचीनतम 'संस्कृत' हमारी मूल भाषा है"—यह सर्ववादी सम्मत होने पर भी हमने वर्तमान-कालोपयोगी हिन्दी-भाषा को ही राष्ट्र-भाषा के रूप में अङ्गीकार किया है।

भाषा का शासन

भावों की अभिव्यक्ति को भाषा मान लेने पर भी जिस देश के जो भाव हैं उस देश की भाषा भी तद्रूप होती है। एक दिन जिस देश में वैदिक भाषा व्यतीत अन्य किसी भी भाषा का प्रचलन नहीं था, जिस देश में जीव मात्र के उपास्य एकमात्र विष्णु-तत्त्व-समूह का आविर्भाव हुआ था एवं जिस देश के मध्ययुग में संस्कृत भाषा की माध्यमिकता में परस्पर भावों का आदान-प्रदान होता था, आज उसी देश में हिन्दी भाषा की माध्यमिकता में शासन चलाने की व्यवस्था हुई है। काल की प्रगति में अथवा परिवर्त्तनशीलता के बीच में जब जिस तरह की अवस्था का उद्भव होता है या होगा, हम उसे ही भगवत्-सेवा के अनुकूल में स्वीकृत करेंगे। "लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने। हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता ॥" के अनुसार वैदिक क्रिया हो अथवा कोई लौकिक क्रिया ही क्यों न हो, भक्ति को लक्ष्यकर उसे करना आवश्यक है। इस प्रकार काल के लौकिक परिवर्तन का परिचय वैदिक विचार में ही विशुद्धरूप में पाया जाता है। सुतरां वेदातीत या शास्त्रातीत कोई भी अवस्था वर्तमान जगत के भूत, भविष्यत्, और वर्तमान काल में असम्भव है। अतः हम यावतीय अवस्थाओं को वैदिक अवस्था की परिणति मानकर तदनुकूल भाव से हिन्दी भाषा में ही पारमार्थिक नित्य, सत्य वैकुण्ठ तत्त्व की आलोचना करने के लिये प्रस्तुत हुए हैं।

राष्ट्र-भाषा का शासन

राष्ट्र, हिन्दी भाषा का अवलम्बन कर जगत के जिस विभाग पर शासन करेगा, श्रीभागवत-पत्रिका समग्र विश्व को उस विभाग से मुक्त होने की वाणी प्रकाश करेगी। राष्ट्र विश्व के किस अंश पर शासन करता है? देह और मन के कियदंश पर। किन्तु श्रीभागवत-पत्रिका देह और मन के शासन-संरक्षण और परिचालन आदि विषयों में दृष्टिनिक्षेप भी न करेंगी। राष्ट्र अपने जगत् को लेकर ही कालतिपात करेगा। श्रीभागवत-पत्रिका ध्वंसशील अथवा परिवर्तनशील देह और मन की क्रियाओं को अतिक्रम कर वैकुण्ठ-जगत के शासन अथवा नियमतंत्र को हिन्दी वर्तमान राष्ट्र-भाषा में प्रकाश करेगी। इसलिये श्रीभागवत-पत्रिका एकमात्र पारमार्थिक वैकुण्ठ वार्तावह के नाम से घोषित है।

प्रार्थना

सुतरां हम अपने समग्र पाठकवर्ग के श्रीचरण में निवेदन करते हैं कि, विशेष आग्रह के साथ इस

पत्रिका के विषयों का सम्यक्रूप से आलोचना करने से वे विशेष लाभान्वित होगें। यद्यपि जागतिक विचार-धारा प्रसूत साधारण भाषा से वैकुण्ठ जगत् की भाषा अथवा विचार का प्रचुर पार्थक्य और गुरुत्व है और इसलिये प्रथमतः यह पत्रिका कुछ अंशों में सहजगम्य न मालूम पड़ने पर भी पुनः पुनः पाठ करने पर कमल रोगोपतप्त रसना के लिए मिश्री-न्याय मधुरातिमधुर प्रतीत होगीं। हमारी सच्चेष्टा एवं सदनुष्ठान के प्रति आप लोगों की सहानुभूति और सहायता होने से हम अपने को कृत-कृतार्थ समझेगें। हम इसी महदुद्देश्य के साधन के लिए पूर्व-पूर्व महाजनों तथा वर्त्तमान मुक्त महापुरुषों की लेख-माला इस पत्रिका में प्रकाशित करेंगे। आधुनिक बद्धजीवों के लेखों में तरह-तरह के भ्रम-प्रमादादि दोष-परिलक्षित होते हैं। हम इस श्रेणि के लेख-प्रणाली के हाथ से सदा सावधान रहेगें। यही श्रीभागवत-पत्रिका का वैशिष्ट्य और गौरव होगा। अलम् अति विस्तरेण।

जैव-धर्म

जीव का नित्य और नैमित्तिक धर्म

इस पृथ्वी में जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीप में भारतवर्ष प्रधान है। भारत में गौड़भूमि सर्वोत्तम है। गौड़ देश में श्रीनवद्वीपमण्डल परम उत्कृष्ट है। श्रीनवद्वीप मण्डल के एक स्थान में भागीरथी के किनारे श्रीगोद्रुमनाम का एक रमणीय जनपद नित्य विराजमान है। श्रीगोद्रुम के उपवन में प्राचीनकाल में अनेक भजनानन्दी पुरुष स्थान-स्थान में वास करते थे। किसी समय वहाँ श्रीसुरभि ने अपने लतामण्डप में भगवान् गौरचन्द्र की आराधना की थी। उससे थोड़ी ही दूर पर प्रद्युम्नकुंज नाम की एक भजन-कुटी थी। वहाँ सघन लताओं से ढकी एक कुटी के भीतर श्रीप्रेमदास परमहंस नामक बाबाजी रहते थे। ये श्रीभगवत्-पार्षद प्रवर प्रद्युम्न ब्रह्मचारी के शिक्षा-शिष्य थे। बाबाजी निरन्तर भजनानन्द में मस्त होकर अपना समय बिताया करते थे।

श्रीप्रेमदास बाबाजी सर्व शास्त्रों में पण्डित होते हुए भी नन्दग्राम से अभिन्न तत्त्व जानकर श्रीगोद्रुम वन को एकान्त मन से आश्रय किये हुए थे। नित्य दो लक्ष हरिनाम जपना, सब वैष्णवों के उद्देश्य से शत-शत दण्डवत् तथा गोप-गृहों में मधुकरी (भिक्षा) द्वारा जीविका-निर्वाह करना यही उनके जीवन का नियम हो चुका था। जिस समय वे इन कार्यों से अवसर पाते, किसी प्रकार की ग्राम्य-कथा (गंदी-वार्तालाप) न करके भगवत्पार्षद-प्रधान श्रीजगदानन्द के 'प्रेम-विवर्त' का पाठ करते थे। पढ़ते पढ़ते आँखों में आँसू भर आते। इस समय निकटस्थ कुंजवासीगण भक्ति के साथ उनका पाठ सुनते। क्यों न सुनते? प्रेम विवर्त ग्रन्थ समस्त रसतत्त्वों से भरपूर है। तिस पर भी बाबाजी के अमृत बरसाने वाले मधुर स्वर को सुनकर सभी भक्तों के हृदय से विषय-विष की ज्वाला दूर हो जाती थी।

एक दिन तृतीय-प्रहर का समय था। बाबाजी महाशय नाम-जप की संख्या पूर्ण कर चुके थे। वे श्रीमाधवी मालती लता मण्डप में बैठकर "श्री प्रेम-विवर्त" का पाठ करते करते भाव-समुद्र में मग्न हो रहे थे। इसी समय एक संन्यासी आकर उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम कर बड़ी देर तक उसी तरह पड़े रहे। बाबाजी महाशय पहले भावानन्द में मस्त थे, किन्तु थोड़ी देर में ही बाबाजी को जब बाह्य स्फूर्त्ति हुई, उन्होंने साष्टाङ्ग पड़े हुए संन्यासी महात्मा को देखा। अपने को तृण से भी अधिक नीच जानकर वे संन्यासी के सामने पड़ कर, "हा चैतन्य! हा नित्यानन्द! इस अधम के ऊपर कृपा करो" कह कर रोने लगे। क्रमशः संन्यासी से उन्होंने कहा—"प्रभो,

मैं अत्यन्त दीन और हीन हूँ, आप मेरी विडंबना क्यों करते हैं?

इसके बाद संन्यासी बाबाजी के चरणों की रज मस्तक पर धारण कर उनके सामने बैठे। बाबाजी महाशय ने भी उन्हें बैठने के लिये केले का वल्कलासन दिया और एक तरफ बैठ कर प्रेम से गद्गद् स्वर से कहा—"प्रभो! यह दीन व्यक्ति आपकी क्या सेवा करने के योग्य है?"

अपना कमण्डलु रखते हुए हाथ जोड़ कर संन्यासी ने कहा,—प्रभो, मैं बड़ा ही भाग्यहीन हूँ। सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक, उत्तर-मीमांसा, पूर्व-मीमांसा और उपनिषद् आदि वेदान्त शास्त्रों का, काशी आदि बहु विध पुण्यतीर्थों में मैंने अच्छी तरह अध्ययन किया, तथा शास्त्र-तात्पर्य वितर्क में अपना बहुत-सा समय बिताया है। लगभग बारह वर्ष हुए मैंने श्रीसच्चिदान्द सरस्वती-पाद के निकट दण्ड (संन्यास) ग्रहण किया है। दण्ड ग्रहण कर सब तीर्थों में भ्रमण करते हुए मैंने भारत में सर्वत्र शङ्कर-मतानुयायी संन्यासियों का संग किया है। कुटीचक, बहूदक, हंस, इन तीन अवस्थाओं का अतिक्रमण कर कुछ दिन परमहंस पद भी मैंने प्राप्त किया था। मौनावलम्बनपूर्वक वराणसी क्षेत्र में, 'अहं ब्रह्मास्मि', (क) 'प्रज्ञानं ब्रह्म', (ख) 'तत्त्वमसि'(ग) आदि श्रीशङ्कराचार्यकथित महावाक्यों का आश्रय भी मैंने किया था। एक दिन कोई साधु वैष्णव ऊँचे स्वर से हरिलीला गान करते-करते मेरे सामने से चले गये। मैंने आँखें खोल कर देखा कि वे आँसुओं से तर-बतर हो रहे थे। उनके सारे शरीर में रोमाञ्च हो रहा था। गद्गद्स्वर से, 'श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द' यह नाम कह रहे थे। नृत्य करते-करते उनके चरण स्खलित हो पड़ते थे और वे पृथ्वी पर गिर-गिर पड़ते थे। उन्हें देख कर तथा उनका गान सुनकर मेरे हृदय में एक अनिर्वचनीय भाव उत्पन्न हुआ, जिसे मैं आपके निकट वर्णन करने में असमर्थ हूँ। भावोदय तो अवश्य हुआ, तथापि अपने परमहंस पद की मर्यादा-रक्षा करने के लिये उनसे कुछ भी वार्त्तालाप न कर सका। हा धिक्कार है, धिक्कार है मेरी पद-मार्यादा को! और धिक्कार है मेरे भाग्य को! कह नहीं सकता, न जाने क्यों उसी दिन से मेरा चित्त श्रीकृष्ण-चैतन्य के चरणों में आकृष्ट हो गया। कुछ समय के बाद मैंने व्याकुल होकर उस वैष्णव साधु को बहुत ढूँढा, पर फिर वे दीख न पड़े। मैंने देखा, उनके दर्शन और मुख से नाम-श्रवण कर मुझे जो विमल आनन्द प्राप्त हुआ, उसका अनुभव मुझे पहले कभी नहीं हुआ था। मैंने बहुत दिन विचार कर निश्चय किया कि वैष्णवों के चरणों का आश्रय लेना ही मेरे लिये श्रेयष्कर है। मैं काशी को छोड़कर श्रीधामवृन्दावन गया। वहाँ मैंने अनेक वैष्णवों को देखा। वे श्रीरूप, सनातन, जीव गोस्वामी का नाम लेकर विलाप करते हैं। वे श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीलाओं का स्मरण करते हैं, और श्रीनवद्वीप का नाम लेकर प्रेम से पृथ्वी पर लोटते हैं। मेरी लालसा हुई कि श्रीनवद्वीप के दर्शन करूँ। श्रीव्रजधाम के चौरासी-कोस की परिक्रमा करता हुआ मैं कई दिन हुए श्रीमायापुर में आया हूँ। मायापुर नगरी में आपकी महिमा सुन कर आज मैंने आपके चरणों का आश्रय लिया है। आप इस दास को अपना कृपा-पात्र समझ कर कृतार्थ करें।

परमहंस बाबाजी महाशय ने दाँतों में तिनके दबाकर रोते रोते कहा,—संन्यासी ठाकुर, मैं एक नितान्त अपदार्थ हूँ। उदर-पूर्ति, निद्रा और निःसार की बातों में मेरा जीवन व्यर्थ गया। मैं तो श्रीकृष्ण चैतन्य के लीला-स्थल में रह कर दिन अतिवाहित करता हूँ। किन्तु कृष्ण-प्रेम क्या वस्तु है, इसे आस्वादन के द्वारा अबतक समझ नहीं पाया। आप धन्य हैं! कारण, क्षण भर के लिये भी वैष्णव का दर्शन कर प्रेम का आस्वादन किया है। आप कृष्ण-चैतन्य देव के कृपा पात्र हैं। इस अधम को प्रेम-आस्वादन के समय कभी कभी आप स्मरण कर लिया करें, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

यह कहते-कहते बाबाजी ने संन्यासी को गले लगा लिया और आँसुओं से तर कर दिया। संन्यासी

(क) मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यक, १।४।१० (ख) प्रज्ञान ब्रह्म है (ऐतरेय ५।४) (ग) तुम्हीं वह हो, (छान्दोग्य ६।१५।३)।

महाराज ने वैष्णव के अंग का स्पर्श कर हृदय में एक अभूतपूर्व भाव के उदय का अनुभव किया। वे भी रोते-रोते नृत्य करने लगे।
नृत्य के समय वे गाने लगे---

"(जय) श्रीकृष्णचैतन्य श्रीप्रभु नित्यानन्द।
(जय) प्रेमदास गुरु जय भजन आनन्द ॥"

बहुत देर तक नृत्य-कीर्त्तन के उपरान्त स्थिर होकर दोनों ने परस्पर बहुत-सी बातें की। प्रेमदास बाबाजी ने विनीत भाव से कहा---महात्मन, आप इस प्रद्युम्न-कुञ्ज में कुछ दिन रह कर मुझे पवित्र करें।

सन्यासी ने कहा—मैंने, आपके चरणों में अपना यह शरीर समर्पण कर दिया। कुछ दिनों की ही बात क्या कह रहे हैं, अपने देह त्याग तक आपकी सेवा कर सकूँ, यही मेरी आकांक्षा है।

संन्यासी ठाकुर सब शास्त्रों के पंडित थे। गुरुकुल में रहकर गुरु का उपदेश ग्रहण करना होता है, वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे। अतएव कई दिनों तक वे आनन्द से उस कुंज में रहे।

परमहंस बाबाजी ने कई दिन बाद कहा—महात्मन्, श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी ने कृपा कर मुझे चरणों में स्थान दिया है। वे आजकल श्रीनवद्वीप मण्डल के एक प्रान्त में श्रीदेवपल्ली ग्राम में श्रीश्रीनृसिंहदेव की उपासना में मग्न हैं। चलिये, आज ही मधुकरी समाप्त कर उनके चरणों का दर्शन कर आवें।

सन्यासी ठाकुर ने कहा,—"जो आज्ञा होगी मैं पालन करूँगा।"

दो बजे के बाद वे दोनों श्रीअलकानन्दा पार कर श्रीदेवपल्ली में उपस्थित हुए। सूर्यटीला लाँघकर श्री नृसिंहदेव के मन्दिर में उन्होंने भगवत्-पार्षद श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी के चरणों का दर्शन किया।

दूर से परमहंस बाबाजी ने पृथ्वी पर गिर कर श्रीगुरुदेव को साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम किया। ब्रह्मचारी जी ने भक्त-वत्सलता से आर्द्र होकर श्रीमन्दिर के बाहर आकर परमहंस बाबाजी को दोनों हाथों से उठाकर प्रेमालिङ्गन दे, कुशल-क्षेम पूछी। बहुत देर तक इष्ट-गोष्ठी के बाद परमहंस बाबाजी ने उन्हें संन्यासी ठाकुर का परिचय दिया।

ब्रह्मचारी जी ने सादर कहा-भाई, तुमने यथा योग्य गुरु पाया है। प्रेमदास के निकट 'प्रेम विवर्त' की शिक्षा प्राप्त करो।

"किवा विप्र, किवा न्यसी, शूद्र केन नय। ❀
येई कृष्ण-तत्त्ववेत्ता सेई गुरू हय॥"
(चैतन्य चरितामृत मध्य ८/१२७)

संन्यासी ठाकुर ने भी विनीत भाव से परमगुरु के पाद-पद्मों में साष्टांग दण्डवत-प्रणाम कर कहा—प्रभो, आप चैतन्य देव के पार्षद हैं। आपकी कृपा कटाक्ष से मेरे जैसे सैकड़ों अभिमानी-संन्यासी पवित्र हो सकते हैं। आप कृपा करें।

संन्यासी ठाकुर ने भक्त-गोष्ठी के परस्पर व्यवहा को पहले सीखा नहीं था। गुरु और परम गुरु में परस्पर जिस प्रकार का व्यवहार देखा, उसी को सदाचार जान कर अपने गुरु के प्रति निष्कपट रूप से, उसी दिन से वैसा ही व्यवहार करने लगे। संध्या के समय आरती दर्शन कर दोनों श्रीगोद्रुम को लौट आए।

(क्रमशः)

श्री कृष्णचैतन्य महाप्रभु का संकीर्तन-आन्दोलन

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्ट-दोहं तीर्थास्पदं शिव-विरिञ्चि-नुतं शरण्यम्।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपाल-भवाब्धि-पोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यज-सुरेप्सित-राज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

❀अर्थात् संन्यासी हो या विप्र हो अथवा शूद्र जाति का ही क्यों न हो यदि कोई कृष्ण-तत्त्व का ज्ञाता हो तो वह सच्चा गुरु है।

हे प्राणतपालक ! हे पुरुषोत्तम श्रीचैतन्यमहाप्रभो ! निरन्तर ध्यानयोग्य, अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान से सर्वथा अनावृत; निर्विशेष मायावाद, शुष्क निर्भेद ब्रह्मानुसंधानरूप ज्ञानचर्चा तथा अर्थ-धर्म-काम-मोक्षरूप कपटता के आवरण से मुक्त; अप्राकृत कृष्ण-भक्ति प्रदानकारी, तीर्थों के आश्रय, ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य श्रीमद् आनन्तीर्थ के अनुगत श्रीरूपानुग महाभागवतों के आश्रय स्वरूप, सदाशिव के अवतार श्रीअद्वैत प्रभु तथा ब्रह्मा के अवतार श्रीहरिदास ठाकुर के आराध्य, अपने भृत्य कुष्ठि-विप्र वासुदेव के आर्त्ति-नाशन, सार्वभौमभट्टाचार्य और प्रतापरुद्र आदि के लिए मुमुक्षा और बुभुक्षा रूप भवसागर को पार कराने वाली नौका स्वरूप आपके पद-प्रान्तों में मैं प्रणति कर रहा हूँ।

हे महाप्रभो ! धार्मिक-शिरोमणि, श्रीकृष्ण-प्रेम के महाभाव की अधिष्ठातृ देवी श्रीमती राधिका की अप्राकृत कृष्ण-विरहरूप विप्रलम्भ सेवा का रसास्वादन करने के लिए देवताओं के वांछितपद प्राणों की अपेक्षा दूष्यरिहार्या लक्ष्मी स्वरूपिणी विष्णुप्रिया देवी को परित्यागपूर्वक विप्रशाप के पालन के मिस संन्यास ग्रहणकरतः कनक-कामिनी-प्रतिष्ठा रूपिणी माया के अन्वेषणकारी जीवों के प्रति अहैतुकी दया परवश हो सर्वत्र ही जिन्होंने अपने अभीष्ट प्राणनाथ गोपीजनवल्लभ का अनुसंधान किया था तथा ह्लादिनी-शक्ति-स्वरूपिणी श्रीमती राधिका का अन्वेषण करने वाले उन राधा-रमण का अनुसंधान जिन्होंने विरहिणी गोपी-भाव से विभावित होकर किया था, आपके पद-प्रान्तों में मैं प्रणति कर रहा हूँ।'

भगवान् श्री कृष्ण-चैतन्य महाप्रभु के अवतार के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में स्पष्टतः निर्देश है—

कृष्ण-वर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदम् ।
यज्ञैः संकीर्त्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

'जिनके मुख से सर्वदा 'कृष्ण' इन दो वर्णों का सर्वदा कीर्त्तन होता है, जिनके 'अङ्ग' —श्रीमन्नित्यानंद तथा श्रीअद्वैतप्रभु, उपाङ्ग—तदाश्रित श्रीवासादि शुद्धभक्त-गण, 'अस्त्र'—श्रीहरिनाम शब्द एवं 'पार्षद'—श्रीगदाधर, दामोदरस्वरूप, रामानन्द, रूप-सनातन आदि हैं; जिनकी कान्ति अकृष्ण अर्थात् पीत (गौर) है, उन्हीं अन्तःकृष्ण वहिर्गौर राधाभावद्युतिसुवलित श्रीमद्गौर सुन्दर का कलियुग में बुद्धिमान व्यक्तिगण संकीर्त्तन-प्रधान यज्ञ द्वारा अर्चन करते हैं।

ऊपर के श्लोक संकीर्त्तन धर्म के प्रवर्त्तक श्रीचैतन्यमहाप्रभु का प्रणाम-मंत्र है इसमें कलि-काल में कलिहत जीवों का उद्धार एक-मात्र हरि-संकीर्त्तन-यज्ञ द्वारा श्रीमन्महाप्रभु के भजन से ही हो सकता है—ऐसा दिखलाया गया है। कलियुग में जिस तरह हरिनाम संकीर्त्तन के प्रभाव का शास्त्रों में उल्लेख है उसी तरह कलियुग में साधारण परिस्थिति किस प्रकार की होगी और उस स्थिति से मानवों का परम मङ्गल कैसे होगा ?—इसका भी उनमें उल्लेख है। अमल पुराण श्रीमद्भागवत् के द्वादश स्कंध के द्वितीय अध्याय में इस विषय की विशद आलोचना की गई है।

'कलियुग में धन ही सकल कार्यों का जीवन होगा। उस समय मनुष्य समाज को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करेगा। जिसके पास जितना धन रहेगा, उसको उसी प्रकार की श्रेणी में मानलिया जागया। अभिजात्य, गुण और विद्या के आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा। धन से ही न्याय, स्वतन्त्रता तथा अधिकार खरीदे जायेंगे। शारीरिक सौन्दर्य ही स्त्री-पुरुषों के दाम्पत्य जीवन की कसौटी होगी। व्यवहारिक कार्यों में परस्पर धोखा देना ही उपयोगी माना जायगा। रति-कौशल की उत्कर्षता ही स्त्री-पुरुषों की विशेषता मानी जायगी। दो पैसे का सूत्र ही विप्रत्व का ज्ञापक होगा। गौरिक वसन, दण्ड अजीन प्रभृति चिह्न-समूह ही एक आश्रम से दूसरा आश्रम स्वीकार करने में अथवा आश्रम-परिचय का एकमात्र कारण होगा। कलियुग में धनहीन होने से न्याय मिलना कठिन होगा। वाक्चपलता पाण्डित्य की परिचायिका होगी। गरीबों को असाधु तथा दाम्भिकों को साधु माना जायगा। परस्पर की स्वीकृति से ही विवाह कार्य संपादित हो जायगा। बहुत दूर जाने वाले तीर्थ-यात्री समझे जायेंगे।

(क्रमशः)

—श्रीअभयचरण भक्तिवेदान्त